सत्साहित्य-प्रकाशन

कुछ शब्द : कुछ रेखाएं

—विभिन्न व्यक्तियों के संस्मरण तथा रेखाचित्र—

विष्णु प्रभाकर

•

•

१९६५

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार : १९६५
मूल्य
साढ़े तीन रुपये

मुद्रक
उद्योगशाला प्रेस
दिल्ली-८

प्रकाशकीय

•

हिन्दी मे रेखाचित्र लिखनेवाले यो बहुत है, पर पाठक के मन पर स्थायी प्रभाव डालनेवाले चित्र प्रस्तुत करनेवाले लेखक बहुत कम हैं। रेखाचित्र का अर्थ कम-से-कम शब्दो मे अधिक-से-अधिक भाव व्यक्त कर देना है और यह काम वस्तुत आसान नही है। रेखाचित्र का एक प्रयोजन और है, और वह है अतर्मन की झाकी प्रस्तुत करना। व्यक्ति की वाह्यक्रियाओ को स्थूल आखे सहज ही देख सकती हैं, लेकिन किसी के मन मे क्या चल रहा है, यह देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि अपेक्षित है।

हमे हर्ष है कि प्रस्तुत पुस्तक की रचनाए इस दृष्टि से पाठको को बहुत-कुछ प्रदान करेंगी। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक हिन्दी के अच्छे नाटककार और कहानी-लेखक हैं। लेकिन उनके रेखाचित्रो को पढकर पाठक अनुभव करेंगे कि इस कला मे हिन्दी के बहुत कम लेखक उनका मुकावला कर सकते है।

ये रचनाए समय-समय पर लिखी गई है । लेकिन इनकी तीन विशेषताए हैं । पहली यह कि लेखक ने केवल 'बडो' के चित्र खीचने मे ही अपनी कला का उपयोग नही किया, उन्हे जिस पात्र में भी कुछ विशेषता दिखाई दी है, भले ही वह किसी ऊचे स्थान पर हो अथवा सामान्यजन, उसी पर उन्होने अपनी लेखनी चलाई है । दूसरी बात यह कि उन्होने पात्रो के चुनाव मे वैचित्र्य खूब रखा है, जिससे सभी रुचियो के पाठको का समाधान हो सके । तीसरे उन्होने कुछ रचनाए रेखाचित्र के रूप मे दी है, कुछ सस्मरण और कुछ इटर्व्यू के रूप मे । इससे पाठको को तीन पृथक् विधाओ का आनन्द मिल जाता है ।

रचनाओ मे कुछ वडी ही मार्मिक है, कुछ मनोरजक है और कुछ ज्ञानवर्द्धक है ।

हमे पूरा विश्वास है कि इन्हे जो भी पढेगा, वह इनसे कुछ-न-कुछ अवश्य पायगा ।

—मंत्री

विषय-सूची

●

कुछ शब्द : कुछ रेखाएं

: १ :

तिरुपति चेट्टियार

उस दिन कम्बोदिया मे सियमरियप के हवाई अड्डे पर उतरे तो पाया कि कजरारे बादल घिर आए हैं। और वातावरण एक मादक गन्ध से महक उठा है। विदेशी नारियो का एक दल हमारे साथ ही अकोर-वाट के विश्व-प्रसिद्ध मदिर देखने आया है। उनका मार्गदर्शक बार-बार हमारे पास आकर अग्रेजी मे कहता है, "देखो, यह मेरा हरम है।"

मैं पूछता हूं, "हरम का अर्थ जानते हो ?"

आखें मटकाकर वह उत्तर देता है, "क्यो नही, क्यो नही !"

मैं हँस पडता हू, "अच्छा, कहा ठहरोगे ?"

अचरज से मेरी ओर देखकर वह कहता है, "क्यो ! रॉयल होटल मे ठहरेंगे। यहा वही एकमात्र ठहरने योग्य स्थान है।"

पैसा हो तो सबकुछ 'योग्य' है। पर हमारी जेब तो लगभग खाली है। और पैसा ही क्यो, वहा की भाषा भी हम नही जानते। जिस किसी से कुछ पूछते हैं तो वह बोल उठता है, "फ्रेंच, अर्थात फ्रेंच मे बातें करो।"

इसी दुविधा मे थे कि अचानक रॉयल होटल मे एक भारतीय से भेंट हो गई, जैसे जी उठे। स्नेहपूर्ण स्वर मे उसने कहा, "गाव मे चले जाइए, वहा एक भारतीय की दूकान है। वह आपकी मदद कर सकेगा।"

उस भारतीय की चर्चा हमने भी सुनी थी, लेकिन उसका नाम कोई

नही बता सका था। मालूम हुआ, वह यही पैदा हुआ है और तमिल के अतिरिक्त किसी दूसरी भारतीय भाषा से उसका परिचय नही है। हां, अग्रेजी के कुछ शब्द उसे अवश्य याद हैं। यशपाल जैन ने तुरन्त कहा, "तब चलो, उसी से बातें करेंगे। आखिर भाषा केवल साधन है, साध्य नही।"

गाँव बहुत बडा नही है। छोटे से बाजार के चारो ओर यात्रियो की सुविधा के लिए ही मानो वह बस गया है। वहा के निवासी कौतूहल से हमे देखते, विशेषकर हमारी पोशाक, धोती-कुर्ता, पाजामा और गाधी टोपी को। यह सब उनके लिए कौतुकागार की वस्तुए है। आपस मे कुछ कहते है और हँस पडते हैं। हम भी हँस पडते है और आखिर उस भारतीय की दूकान पर पहुच जाते हैं। पाते है कि वह बाहर ही खडा है। रिक्शावाले के कुछ कहने से पूर्व ही उसकी आखे चमक उठती है। वह बोल उठता है, "इडिया!"

निमिष मात्र मे मै उसे देख जाता हू कि उमर ढल रही है, पर शरीर मे कसावट शेष है। रग श्याम है, पर नेत्रो का तरल-तेज ज्योति से पूर्ण है। यशपालजी तुरन्त धाराप्रवाह अग्रेजी में बोलने लगते हैं। समझने मे उसे कुछ दिक्कत होती है, पर वह कुछ कहता नही है। मुस्करा कर अपने सेवक को पुकारता है और बहुत देर तक स्थानीय भाषा मे बातें करता है। सेवक सिर झुका कर चला जाता है तो वह हमारी ओर मुडता है, "यू कॉफी ?"

हम दोनो ने एक-दूसरे को देखा। फिर उसको देखा, कुछ समझ मे नही आया। अचानक ऐसे ही बोल उठा, "हमने अभी तक कॉफी नहीं पी है।"

वह हँसा और बोला, "आइ एम कॉफी।"

हमने फिर एक-दूसरे को देखा। वह तुरन्त अन्दर चला गया, तब मैंने एक दृष्टि उस छोटी-सी बस्ती पर डाली। कहा, "हमारे देश के छोटे कस्बे-जैसी बस्ती है। अत्यन्त साधारण, लेकिन बरसात के इस मादक मौसम मे कितनी प्यारी लगती है!"

यशपालजी कुछ कहते कि अन्दर से आवाज आई, "कम बैक।"

एक और नया शब्द । हम अन्दर जाकर एक तख्त पर बैठ गए । रोत्तन नाम की एक घास से बनाये हुए नाना प्रकार के सामान से वह दूकान भरी थी । यात्रियो के योग्य कुछ और चीजे भी थी, पर जैसे भीड लगी हुई हो, सुघडता कुछ कम ही थी । सहसा एक बिल्ली अपने शरीर को कमानी के समान मोडती हुई मेरे पैरों के पास आकर सटकर खडी हो गई और पीठ रगडने लगी । उसे थपथपाते हुए मैंने कहा, "लो, सगुन तो अच्छा हुआ । कॉफी भी आ गई ।"

वह दो प्याले हाथ में लिये हुए बाहर आ चुका था और उसी तरह मुस्करा रहा था । हमने बहुत धन्यवाद दिया । सचमुच हम तब असीम सुख से भर उठे थे । कॉफी की एक-एक घूट जैसे हमारे अन्तर में प्यार उडेल रही हो । तभी एक व्यक्ति वहा आया और वह देर तक उससे बातें करता रहा । फिर हमसे कहा, "गो, चीप होटल बुक्ड रूम ।"

तबतक हम बहुत-कुछ समझ चुके थे । पता लगा कि पास ही एक होटल है । वहा एक बिस्तर के कमरे के दो रात के लिए टैक्स सहित२५० रीयल अर्थात लगभग ३२ रु० देने होगे । यह विशेष रूप से हमारे लिए है । उसने मुस्करा कर कहा, "यू टू फिफ्टी, अदर थ्री फिफ्टी । फूड आइ एम ।"

कुछ देर पहले जहा घोर अन्धकार था, वहा प्रकाश उमड-उमड आने लगा । होटल मे जाकर देखा, कमरा साफ-सुथरा है और पलग पति-पत्नी के लिए है । न सही पति-पत्नी, पर है तो दो । उस पर पैसे का अभाव, इसीलिए उसी को स्वीकार करना पडा । वहा के अधिकारी हमारी एक भी बात नही समझते थे । बस सिर झुकाकर बार-बार अभ्यर्थना करते और इशारे से हमारी बातो का जवाब देते । हाथ-मुह धोकर चुके थे कि पीने के लिए चाय का उबला पानी आ गया । न दूध, न शक्कर । शायद यहा पर ऐसा ही पानी पिया जाता है ।

लेकिन हमे तो अकोर वाट जाने की उतावली है । आकाश मे सुरमई घटा गहरी हो आई है और वर्षा की अगवानी बडी प्यारी लगती है । लेकिन हम बेसरोसामान मुसाफिर इस प्यार को कहा सजोए, इस-लिए तुरन्त रिक्शा की तलाश मे निकल पडते है । लेकिन दूकान पर

पहुचते ही क्या देखते हैं एक रिक्शा लिये वह बन्धु हमारी राह देख रहे हैं। एकदम बोले, "फूड आइ एम, कम बैक।"

अन्दर जाने पर देखा। मेज पर चावल और गरम-गरम साग मौजूद है। हमने फिर एक-दूसरे को देखा। उसका नाम पी० ए० तिरुपति चेट्टियार है। उसने कहा, "हरी, रिटर्नड फाइव, रेन। अर्थात जल्दी करो, पाच बजे तक लौट आना, फिर बारिश आ जायगी।"

कहने मे देर लगती है। समय और सामर्थ्य भी नही है। हो भी तो इस अटपटे स्नेह को, इस सहज स्वागत को भाषा मे कैसे व्यक्त किया जाय और वहा भाषा थी भी कहा! वह 'कुछ' शब्द ही बोलता था, लेकिन वही 'कुछ' शब्द हमे स्नेह के अथाह सागर मे डुबोये दे रहे थे। उसी स्नेह के कारण अकोर वाट, बैयोन, बैन्ताई-स्री और बैन्ताई-स्म्रे की प्रस्तर प्रतिमाए अदभुत रूप से सजीव हो उठी, मानो बोल-बोल उठी। मानो रामायण-महाभारत के वीर विज्ञ नरनारी, पुराणो के अलौकिक पात्र, नृत्यमत्ता अप्सराए, अवलोकितेश्वर और तथागत बुद्ध, तत्कालीन कम्बोज के नागरिक सभी हमारे हो गए है। हममे आत्मसात हो गए है। देखते-देखते मन और आखे जुडाती हैं, मानो कम्बोज के वे कजरारे मेघ, वे गौरवशाली खडहर, जो भारतीय सस्कृति के प्रतीक और मीनाग नदी के क्रोध[1] के साक्षी है, तिरुपति चेट्टियार के उस अविरल तरल स्नेह मे डूब कर पुनर्जीवित हो उठे है।

लेकिन चेट्टियार तो परम शान्त था, न उद्वेग, न उछाह का अतिरेक, बस बातो का अटपटा क्रम और आखो से बहती स्नेह की अजस्र धारा, जी करता था कि बस उसीकी ओर देखता रहू। उसने अपनी उसी अटपटी भाषा मे खडहरो की कहानी सुनाई, भारत के राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री और दूसरे विशिष्ट व्यक्तियो की यात्रा का विवरण प्रस्तुत किया। चित्रो की मजूषा दिखाई। मैडल, सनद, मान-पत्र सब-कुछ बच्चो की-सी सरलता से हमारे सामने रख दिये। बताया

---

१ कहते है कि अचानक मीनाग नदी उदगम की ओर बहने लगी थी और नगर में पानी भर गया था।

कैसे उसने राष्ट्रपति के लिए भोजन और प्रधानमंत्री के लिए चाय का प्रबन्ध किया। कैसे फ्रेंच सरकार और वर्तमान कम्बोज राज्य ने उसकी वीरता और देशभक्ति से प्रभावित होकर उसे मैडल दिये।

उसकी दो पत्निया है। एक तमिल, जो आज भी अपनी पुत्री के साथ भारत मे रहती है। एक कम्बोज, जो अपनी पुत्री सहित उस समय कही गई हुई थी। पहली पत्नी से एक पुत्र भी है, जो कम्बोडिया मे ही व्यापार करता है। इस सारे वर्णन मे दो राते जैसे दो युगो मे समा गई। बीच-बीच मे उसका नियमित व्यापार चलता था। कम्बोज युवतिया और वृद्धाए रोत्तन की बनी टोकरिया और दूसरे साज-सज्जा के सामान गाव से लेकर आती और काफी तर्क-वितर्क के बाद, अपने दो दिन के परिश्रम को ३० से लेकर ४० रीयल तक मे, अर्थात ४-५ रुपये मे, उसे सौप जाती। पैसे लेकर प्रथा के अनुसार वे घुटने टेकती और उसे प्रणाम करती। इस व्यापार के बीच मे एक क्षण के लिए भी हमारी छोटी-से-छोटी बात उसके ध्यान से नही चूकती। दूसरे दिन जब हम कुछ और भारतीयो के साथ बैन्ताई-स्म्रे के अद्भुत मन्दिर देखकर लौटे तो वह हमे ऊपर ले गया। वह विशाल कमरा सामान से भरा था, लेकिन बीच मे एक छोटा-सा पूजा-गृह था, जिसकी एक-एक मूर्ति अदभुत और अनमोल थी, देखकर चकित हो आए। लेकिन हमे तो तुरन्त वापस जाना था। अधिक जानने की इच्छा का दमन करना पड़ा। लेकिन सवेरे जब विदा का समय आया तो चेट्टियार बोल उठा, "टाइगर कब गौट, लुक्ड।"

कुछ समझ मे नही आया। तबतक कपडो की आलमारी मे वह कुछ ढूढने लगा था। सोचा—शायद चाबी निकाल रहा है। पर दो क्षण बाद हम चौक पडे। देखा, चेट्टियार के हाथ मे चाबी के स्थान पर चीते का छोटा-सा जीता-जागता बच्चा है। बिल्ली के बच्चे जैसा निरीह, निर्दोष और प्यारा-प्यारा। बच्चे किसी के भी हो, प्यारे ही होते हैं। यशपालजी ने हँसते हुए पूछा, "इसे कहा से ले आए?"

चेट्टियार ने कहा, "फोरेस्ट गोट।"

मैंने कहा, "इसे खिलाते क्या हो?"

चेट्टियार बोला, "कैट मिल्क, टूचाइल्ड हर, थ्री दिस, कैट नो आब-जेक्शन, लव ।" अर्थात—बिल्ली का दूध पीता है, दो उसके अपने बच्चे हैं, तीसरा यह है । उसे कोई आपत्ति नही है । प्यार करती है ।

और वह हॅस पडा । हम भी हॅस पडे । और हाथ जोडकर कहा, "अच्छा, अब चलते है ।"

कॉफी तैयार थी । उसने तुरन्त दो प्याले मेज पर ला रखे । पैसो के सम्बन्ध मे उसने कैसे हमारी सहायता की, इसकी चर्चा करके उसका महत्त्व नही घटाना चाहता । किस प्रकार उसने कम्बोज की प्राचीन भारतीय सस्कृति और स्थानीय रीति-रिवाजो के बारे मे हमे जानकारी दी, वह सब भी यहा अप्रासगिक है । इतना ही कहूगा कि जब हम रिक्शा मे बैठे तो उसकी काली चमकदार पुतलिया पानी मे तैर रही थी । हमारे दिल भीग आए । आज भी वे पुतलिया रह-रह कर हृदय मे चमक उठती है तो मन का कलुष, क्षण-भर को सही, धुल-पुछ जाता है । चलने लगे तो दो पत्र हमे देते हुए वह बोला, "फ्नोप्पन, सेगाव, फ्रेंड्स, नो डिफिकल्टी, फूड, प्लेस, एवरी थिंग । गो इण्डिया,, रोट लैटर, राष्ट्रपति नमस्कार ।" अर्थात—नोम्पेन और सेगाव मे मित्र हैं, कोई कष्ट नही होगा । भोजन, स्थान, सभी का प्रबन्ध हो जायगा । भारत जाकर पत्र लिखना । राष्ट्रपति को नमस्कार कहना ।

उससे विदा लेना अपने से विदा लेने जैसा था । यशपालजी ने कृतज्ञता के कुछ शब्द कहे तो उसने उत्तर दिया, "हिन्दू, मुस्लिम, चीनी, कम्बोदियन, थाई, इग्लिशमैन मैन-मैन ।"

इसके बाद भी कहने को कुछ रहता है क्या ! रिक्शा चल पडी और धीरे-धीरे वह मूर्ति मन, नेत्र सब-कुछ को घेरकर अन्तर मे उतर चली । अब भी जब कभी उसका स्मरण हो आता है तो वह तरल श्यामल मूर्ति सामने आ खडी होती है । और कहती है, "फूड आइ एम ।"

मैं सुनता हू जैसे वह कह रहा है—"लव आइ एम" अर्थात–प्रेम मैं हू, भाषा नही । और "मैन मैन"–अर्थात आदमी आदमी है, इग्लिशमैन, हिन्दुस्तानी, कम्बोदियन, थाई नही ।

: २ :

किरणों का जादूगर

२९ मई १९५७ । बगलौर के सान्ध्य आकाश मे श्यामल मेघ घिर आए हैं। घूमते-घूमते सहसा हमारे आतिथेय धनजीभाई बोल उठते हैं, "रमन इन्स्टीच्यूट देखोगे ?"

और उत्तर की प्रतीक्षा किये विना, गाडी को एक विशाल और भव्य भवन के अहाते की ओर मोड देते है। द्वार पर लिखा है—"यह आम रास्ता नही है। विना आज्ञा प्रवेश वर्जित है।" मैं हठात उस ओर सकेत करता हू तो धनजीभाई कहते हैं, "यह तो विदेशियो के लिए लिखा है। इन्स्टीच्यूट हमारी है। हमे कौन रोक सकता है ?"

और वरामदे के पास गाडी रोककर वह चपरासी को पुकारते हैं, "रमन साहव हैं ? उनको बोलो कि हम आये हैं।"

हम कई व्यक्ति है। श्री यशपाल जैन, उनकी पत्नी आदर्श कुमारी, पुत्री अन्नदा, पुत्र सुधीर, आतिथेय धनजीभाई और मैं। कुछ कहू कि इससे पूर्व ही देखता हू कि अन्दर से आकर एक व्यक्ति तेजी से अग्रेजी मे कह रहा है, "मैं जानता हू, तुम बिना आज्ञा अन्दर आये हो, पर कोई बात नही। किसीसे कहना मत। मेरे पास पन्द्रह मिनट है। "

हम लोग सम्हलें कि वह तीव्र गति से आगे बढ जाते है। हतप्रभ-विमूढ हम विश्वास ही नही कर पाते कि यही नोबुल पुरस्कार प्राप्त, प्रकाश व नाद-विज्ञान के विशेपज्ञ, विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिक, सर चन्द्रशेखर वैंकटरमन है। कोट, पतलून, जूता, दक्षिणी पगडी, नाक कुछ लम्वी, वाईं ओर का दात टूटा हुआ। वाह और गले पर से कोट भी फटा हुआ। यह है रमन। यह व्यक्तित्व है इनका।

विचार तीव्र गति से उमडते-घुमडते हैं। उतनी ही तीव्र गति से वे बोलते चले जाते है। सहसा गम्भीर होकर वह मेरी ओर मुड आते है और पूछते हैं, "जानते हो, मेरा मतलव क्या है ?

मैं अचकचाकर कहता हू, "जी जी।"

तभी यशपालजी हँसते हुए मेरा हाथ दबाते है, "क्या खाक जानते हो ! यह तो उनका तकिया कलाम है ।"

सचमुच उस एक घण्टे मे वह असख्य बार इस वाक्य का प्रयोग करते है । आरम्भ मे उन्होंने कहा था, मेरे पास तो पन्द्रह मिनट है, लेकिन जब हम उनसे विदा लेते है तो पता लगता है कि एक घण्टा कभी का बीत चुका है । जल-प्रलय के सिद्धान्त की व्यर्थता से लेकर पत्तो के कोयलो के नाना रूपो मे रूपान्तरीकरण, हीरे के निर्माण, नाना धातुओ, ग्रेनाइट, न जाने इन सबके बारे मे वह हम अवैज्ञानिको को क्या-क्या बता देते है ! तीव्रता से बोलते रहते है, "देखो, यह है ओयल डायमण्ड । यह इण्डस्ट्रीयल डायमण्ड है, ये है मोती, चमकते है न ? ना—ना, इन्हे छूना मत । हीरे कोयले की खानो मे ही पैदा होते है, पर उनको चमकदार बनाने के लिए कितना परिश्रम करना पडता है ! तुम तो जानते ही हो कि भारत मे नोबुल प्राइज पानेवाले दो व्यक्ति थे, अब एक मै ही जीवित हू । इसीलिए मेरी मुसीबत है ।"

बीच-बीच मे वह ऐसी बातें कह जाते है कि जिनका पूर्वापर कोई सम्बन्ध नही होता, लेकिन अर्थ अवश्य होता है । उनके सग्रहालय मे नाना प्रकार के शख, सीपिया, तितलियो का भण्डार, समुद्र के नाना-रूप जीव-जन्तु है । आग्रहपूर्वक वह एक-एक वस्तु को दिखाते है । दिखाते ही नही, समझाते हैं । घूम-घूमकर पूरा भवन दिखाते है, बाग दिखाते हैं, कहा क्या बनाने की उनकी कल्पना है, यह सब बडी आत्मीयता से समझाते है और बीच-बीच मे सहसा हमारी ओर मुडकर कह उठते है, "क्या तुम इस बारे मे कुछ लिखोगे ? मैं जानता हू, तुम कुछ नही लिखोगे ।"

फिर एक क्षण बाद कहते है, "यदि लिखो तो यह अवश्य लिखना कि ऊपर की मजिल की खिडकी से चारो ओर का दृश्य बहुत ही मनोरम दिखाई देता है ।"

और फिर सान्ध्य-मेघो की तरल छाया में दूर तक फैली हुई हरितवसना पहाडियो और ऊचे वृक्षो को स्निग्ध दृष्टि से देखते हुए कहते है, "है न बगलौर सुन्दर ! मैं इसें और भी सुन्दर बनाना चाहता

हू, लेकिन सरकार क्या करू ।"

मैं कभी उनकी ओर देखता हू । कभी चारो ओर के सौन्दर्य पर दृष्टि डालता हू । इन्स्टीच्यूट के भीतर भी तो सब-कुछ सुन्दर-ही-सुन्दर है । अचानक दृष्टि ब्लैकबोर्ड पर अटककर रह जाती है । उसपर विज्ञान के किसी सिद्धान्त के बारे मे कुछ लिखा है । कह उठता हू, "कितने सुन्दर अक्षर हैं, मोती जैसे ।"

वैज्ञानिक रमन मुस्कराकर कहते है, "विज्ञान आदमी को सौन्दर्य की ही प्रेरणा देता है ।"

इसी प्रसग मे सुधीर कहता है, "मेरी पुस्तक मे आपका चित्र है ।"

वह तुरन्त उसके कन्धे पर हाथ रखकर बोल उठते हैं, "तो तुम विद्यार्थी हो ? मैं तुमको कुछ ऐसी वस्तुए दिखाऊगा जो किसीको दिखाना पसन्द नही करता । मेरे साथ आओ ।"

और वह हमको अपने छोटे-से कमरे मे ले जाते हैं, जिसमे कई आलमारिया है । वह उन्हे खोलते है और देखते-देखते हमारे सामने नाना रग के अनेक मैडल और अनेक प्रमाणपत्रो का एक ढेर लग जाता है । बडी उत्सुकता से हम अनेक मैडलो के बीच मे अपना प्रकाश फेंकते हुए नोबुल पुरस्कार के उस भव्य पदक को देखते हैं, जो उन्हे १६३० मे भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे उल्लेखनीय काम करने के लिए मिला था । श्री रमन ने अपना जीवन भारतीय अर्थविभाग मे असि-स्टैण्ट अकाउण्टेण्ट जनरल के पद से आरम्भ किया था, लेकिन शीघ्र ही वह विज्ञान के क्षेत्र मे आ गए और फिर तो विश्व के सर्वोच्च कोटि के वैज्ञानिको की श्रेणी मे पहुचकर ही रुके । उन्होने विज्ञान की शिक्षा विदेशो मे नही प्राप्त की । इसी देश की मिट्टी मे अपनी महानता को खोजा । समुद्र को देखकर उन्होने कल्पना की कि स्वच्छ जल मे होकर जब प्रकाश चलता है तो फैलने की प्रक्रिया मे नाना रग उत्पन्न होते है । फिर सतत अध्ययन के बाद उन्होने एक नया सत्य खोज निकाला कि 'डिफ्यूजन' की क्रिया मे प्रकाश अपना रग बदल सकता है । १६२८ मे उन्होने विभिन्न वस्तुओ द्वारा विस्तरित प्रकाश मतरगे मे नई रेखाओ की उपस्थिति पाई, जो प्रारम्भिक रश्मि मे नही थी । यही नवीन

रेखा 'रमनरेखा' और सतरगा 'रमन सतरगा' के नाम से प्रसिद्ध हुए ।

इस चमत्कार के बारे में सोचते-सोचते न जाने मैं कहा चला जाता हू कि सहसा सुनता हू, वह कह रहे है, "इस पदक को देखो, कितना असुन्दर है । (श्री) जवाहरलाल नेहरू को भी मिला है ।"

सहसा झटका लगता है, लेकिन जब उस बोर्ड पर लगे हुए पदकों को देखता हू तो सचमुच ही उनमे वह 'भारत-रत्न' का पदक असुन्दर ही दिखाई देता है । उसमे असुन्दर एक और पदक है 'कलकत्ता विश्व-विद्यालय' का । गलतफहमी न हो, यहा भौतिक सौन्दर्य की चर्चा है और मैं जानता हू, उन्होने इस शब्द का प्रयोग इसीलिए किया कि कुछ क्षण पहले मैंने अक्षरो के सौन्दर्य की प्रशसा की थी ।

एकाएक वह बोल उठते है, "आओ-आओ, आप लोगो को कुछ और सुन्दर वस्तुए दिखायें ।"

और वह तीव्र गति से आगे बढ जाते है । पीछे-पीछे हम भी एक छोटे-से कमरे मे पहुचते है, विज्ञान के नाना उपकरणो से सजा यह कमरा कुछ ही क्षणो मे इन्द्रधनुष के प्रकाश से जगमगा उठता है । आश्चर्य से हम एक-दूसरे की ओर देखते है । जैसे हम सब रगो के सागर मे तैर रहे हो । वैसे ही, जैसे नाना रूप-रग की परिया बच्चो के स्वप्न-ससार मे तैरा करती है और प्रकाश तथा रग के जादूगर रमन है कि कभी यह स्विच दबाते है तो कभी वह, और फिर कोट की जेब मे हाथ डालकर स्रष्टा की तरह निसग भाव से मुस्कराने लगते है । और वह परावैगनी प्रकाश हमको अलौकिक रूप देता रहता है ।

काफी-कुछ देख चुके है । अन्त मे सोने और हीरे के नाना रूपो को देखते है । वह कहते है, इस बार हिन्दी मे, "सब देखा, हो गया ।"

और फिर बोल उठते है, "मैंने तुम्हे इतना समय दिया । मेरा भी एक काम करना । तुम लोगो को कही मे हीरे मिलें तो मेरे पास भेज देना, अच्छा ।"

और फिर वही शिशु-सुलभ शरारतभरी मुस्कान । हम भी मुस्कराते हुए कह देते है, "अवश्य भेजेंगे ।"

हम सब छतपर आ गए है । विदा लें, इससे पूर्व यशपालजी इनसे

प्रार्थना करते है, "आपका एक चित्र खीचने की इच्छा है ।"

वह जैसे एकदम तडप उठते हैं, "इस फटे कोट मे चित्र खींचोगे ? यानी आप दुनिया को दिखाना चाहते हैं कि मैं फटा कोट पहनता हू । पर कोई बात नही, खीच लो ।"

यशपालभाई फोटो खीचते है और फिर हम इस आकस्मिक-अदभुत से अभिभूत कई क्षण मौन चलते रहते हैं ।

अन्तिम अक मे हम सब तरल है । वह उसी निसग भाव से हाथ मिलाते हैं । नमस्कार करते है और मुस्कराते हुए धूमकेतु की तरह जैसे आये थे, वैसे ही भीतर चले जाते है । जब चले जाते है तब हमे उनकी उपस्थिति का भान होता है ।

छह वर्ष बाद आज सोचता हू कि अनुसन्धानकर्ता की लगन, वृद्ध की सनक और शिशु की सरलता—इनकी सीमा-रेखा कितनी पतली है ! इस चित्र मे क्या वह एक साथ सरलस्वभाव, कल्पनाप्रिय, सद-भावी और आत्मप्रदर्शनप्रिय महत्त्वाकाक्षी नही जान पडते ? परन्तु सच यह है कि जो जितना ऊचा उठता है, वह उतना ही सरल और सहज हो रहता है । आज वह विश्व के उन महान व्यक्तियो मे से है, जिनके अनुसन्धान की कथा वर्तमान विज्ञान का इतिहास है ।

उन्होने कहा था, मैं जानता हू तुम कुछ नही लिखोगे । मैंने भी सोचा था कि निश्चय ही कुछ नही लिख सकूगा । यह अन्तरग अनुभूति क्या शब्द पाने योग्य है, लेकिन वह तो प्रकाश के जादूगर हैं । अनेक पर्दों के भीतर से आज उसकी एक अटपटी झलक अनचाहे प्रकट हो ही गई ।

: ३ :

खानसाहब शेख मोहम्मद जान

खानसाहब शेख मोहम्मद जान रिटायर होनेके बाद अधिक नही जी सके । मरने से पूर्व वह पागल भी हो गए थे । पागल यानी

वीतराग। यो दूसरो के प्रति राग उनमे पहले ही बहुत कम था, जो था वह अधिकतर अपने तक सीमित था। दुनिया की भाषा मे उन्हे स्वार्थी कहा जा सकता है, लेकिन उसकी जो सीमा उन्होने निर्धारित की थी, वह किसी दूसरे के क्षेत्र मे से होकर नही जाती थी।

रग उनका काला था और नक्श थे खरखरे। वह सफेद तुर्रेदार पगडी बाधा करते थे और खाकी बिरजिश के ऊपर खाकी कोट भी। हाथ मे छोटा-सा डण्डा रहता था, यानी उनका प्रयत्न था कि वह सुदर्शन बने रहे, यो कुछ अदर्शन भी नही थे। दो-दो पत्निया थी। एक तब की थी, जब वह ७ रु० के कम्पाउण्डर थे, और दूसरी अबकी थी, जब वह प्रथम श्रेणी के गजटेड आफीसर बन गए थे। दोनो मे उतना ही अन्तर था, जितना कम्पाउण्डर और फर्स्ट क्लास गजटेड आफीसर मे। एक उनकी 'घरवाली' थी। दूसरी के वह 'नाज़बरदार' थे। लेकिन अफसोस 'सुफला' वह दोनो को न कर सके। यो भी कह सकते है कि दोनो ही उनकी वशबेल आगे चलाने मे असमर्थ रही। इसीलिए दूरदराज के एक अशिक्षित गरीब लडके को उन्होने गोद ले लिया था। मैने पूछा, "डिप्टी साहब, इतने रिश्तेदारो मे इसे ही क्यो ?"

वह तुरन्त गम्भीरता से बोले, "बाबू बिसनूदत्त, जो बन्दानवाजी करे दिल उसपर फिदा। फिर दोनो वक्त विना कहे हुक्का ताजा कर देता है। हर वक्त हाथ वाधे खडा रहता है। बुढापे मे परेशान नही करेगा।"

बन्दानवाजी का उन्हे खुद बहुत अनुभव था। यही करते-करते तो वह कम्पाउण्डर से यहा तक पहुच गए थे। मैं साक्षी हू, एक दिन गोरे अफसर के जूते का फीता न जाने कैसे खुल गया। आस-पास कई हिन्दुस्तानी अफसर खडे थे। जैसे ही उसने झुक कर फीता बाधने का प्रयत्न किया वैसे ही विद्युत की गति से तीन अफसर पैर की ओर लपके। भाग्य की बात देखिये, फीता बाधने का गौरव शेख मोहम्मद जान को ही प्राप्त हुआ। इस बात की चर्चा वह बडे फख्र के साथ वर्षों तक करते रहे। और जब अनेक वर्षो के अनथक प्रयत्नो के बाद

उनकी वन्दानवाज़ी से खुश होकर गोरी सरकार ने उन्हे खानसाहब का खिताव अता फरमाया तो उन्होने उसका सवसे वडा कारण इसी घटना को माना।

इसका यह आशय नही कि वह गजटेड ग्राफीसर के गौरव से परिचित नही थे। अवसर आने पर उसको प्रदर्शित करने मे कभी नही चूकते थे। उस दिन मैं किसी काम मे वहुत व्यस्त था। सदा की तरह वह आकर मेरे कमरे के वाहर खडे हो गए। कुछ कहा भी, लेकिन व्यस्तता के कारण मैं सुन न सका। हो सकता है, उन्होने अपनी वात को दोहराया भी हो, लेकिन मैं तवतक उनकी ओर मुखातिव नही हुआ जवतक वह आगवबूला न हो गए। हठात चौककर क्या देखता हू कि वह कापते हुए कह रहे थे, "एक गजटेड आफिसर तुमको अटैण्ड कर रहा है और तुम आख उठाकर भी नही देखते। मैं साहव से तुम्हारी शिकायत करूगा।"

साहव की मुझे कोई चिन्ता नही थी और मैं यह भी जानता था कि शेख मोहम्मद जान मेरी शिकायत नही कर सकते, लेकिन उस दिन का उनका वह कृष्ण-वर्ण रुद्र-रूप मुझे वहुत मनोरजक लगा। सोचा, इस आदमी मे तो जान भी है। यद्यपि इस शक्ति का प्रदर्शन वह अशक्तो के प्रति ही अधिक करते थे, तो भी उठ कर उनसे माफी मागी। कहा, "आपका अपमान करने की वात मैं सोच भी नही सकता। लेकिन काम इतना है कि मैंने सचमुच आपकी आवाज नही सुनी और " फिर धीरे से कहा, "सवसीडीयरी रूल्ज मे यह लिखा है कि यदि वहुत आवश्यक काम हो तो गजटेड आफीसर के आने पर खडा होना अनिवार्य नही है।"

एक क्षण वह चुपचाप मेरी ओर देखते रहे। फिर आख मलते हुए वहा से चले गए। वस्तुत उनके रुष्ट होने का कारण आख मे कुछ गिर जाना ही अधिक था। जो भी हो अगले दिन सवेरे क्या देखता हू कि वह स्वय कुर्सी खीच कर मेरे पास वैठ गए और धीरे से वोले, "वावू विसनूदत्त, सुना है लाहौर जा रहे हो।"

"जीहा, आज रात को जा रहा हू।"

"तो भई, मेरी बात न भूल जाना ।"

मैं मुस्कराया, "उसी के लिए तो जा रहा हू ।"

वह बोले, "हा, देखो, इस बार मुझे खानसाहब का खिताब मिल ही जाना चाहिए । हर साल रह जाता हू । बुरा लगता है । और हा, देखो, तुम्हारे लिए यह क्या लाया हू । नौजवान आदमी हो । खूबसूरत हो । तुम्हारे लिए वैसा ही खूबसूरत तोहफा है ।"

और यह कहते-कहते उन्होने जेब मे से एक छोटा-सा कलैण्डर निकाला । मान लूगा वह एक बहुत ही सुन्दर कागज पर छपी एक सुन्दर तस्वीर थी । उस समय फिल्म स्टारो मे मिस कज्जन अपने रूप के लिए विख्यात थी । असख्य पतगे उस शमा पर कुरबान रहते थे । शायद शेख साहब को भी उसने परेशान किया होगा । इसीसे प्रभावित हो वह अपनी राय मे यह सुन्दर तोहफा मेरे लिए लाये थे ।

मैने कहा, "शेख साहब, आपकी पसन्द की दाद देनी चाहिए ।"

वह गर्व से हँसे, "है न उस गोरी कबूतरी से सुन्दर !"

कबूतरी से उनका आशय गोरे अफसर की गोरी आया से था । वह युवती सचमुच सुन्दर थी । शेख साहब ने बहुत बार उससे बाते करने का प्रयत्न किया था, लेकिन उस प्रयत्न के आरम्भ में वह इस तरह कापने लगते थे कि शब्द उस कम्पन की असख्य लहरो मे खो जाते थे । लेकिन हर प्रयत्न के बाद उस कहानी को मुझे सुनाने से वह कभी नही चूके थे।

वैसे भी कहानी कहने का उन्हे बडा शौक था । अपने प्रारम्भिक जीवन से लेकर अफसर बनने तक की अनेक कहानिया वह मुझे सुनाया करते थे । एक दिन बोले, "तुम्हे इन अफसरो को खुश करने की कला बताता हू । जिन दिनो मै सलोतरी (पशु-चिकित्सक) था, उन दिनो एक गोरा अफसर बडा जालिम था । हमेशा हन्टर लेकर चलता था । उसका नाम ही लोगो ने हन्टर साहब रख दिया था । रास्ते मे जो भी उसे मिलता, वह अगर उसे सलाम न करता तो बस हन्टर उसकी पीठ पर पडने लगता । तबतक पडता रहता जबतक वह सलाम करते-करते दोहरा न हो जाता । अब एक दिन की बात क्या बताऊ !

अमृतसर के दीवाली के मेले मे मैं उसके साथ चला गया। घोडे खरीदने थे। वह उनकी जाच कर रहे थे। आस-पास काफी लोग थे। मैं भी चुपचाप खडा हो गया। कम्बख्त ने न जाने कब मुझे देख लिया और जैसे ही वे लोग वहा से हटे उसने हन्टर उठा कर कहा, "वैल सलोतरी, तुमने हमको सलाम नही बोला।"

"अब बाबू बिसनूदत्त, काटो तो खून नही। पर अल्लाताला भी क्या कारसाज है! अचानक मेरे मुह से निकल गया, "हुजूर, आप घोडे परख रहे थे, अगर मैं उस वक्त हुजूर की खिदमत मे सलाम अर्ज करता तो हुजूर का ध्यान न बट जाता। अब मैं हुजूर को दस बार सलाम बजा लाता हू।"

"साहब खिलखिला कर हँस पडे। बहुत खुश हुए। बोले, "तुम ठीक बोलता है। तुम बहुत होशियार है।"

शेख मोहम्मद जान ने गर्दन उठा कर बडे गर्व से गुरु गम्भीर स्वर मे कहा, "यही तो बातें है, जो आदमी को ऊपर उठाती है। मैं सात रुपये का मामूली कम्पाउण्डर था और आज एक फर्स्ट क्लास गजटेड आफीसर हू। इस घटना का इतना असर हुआ कि साहब जहा कही भी जाते, मुझे ही अपने साथ ले जाते।"

फिर मेज पर दोनो कोहनी टिका कर उन्होंने बडे विश्वास से कहा, एक और मजेदार वाकया सुनाता हू। एक बार हम लोगो को एक रियासत मे जाना पडा। महाराजा ने गोरे साहब का जो इस्तकबाल किया वह क्या किसी साले राजा या नवाब को नसीब हुआ होगा। मुझे भी एक बहुत फर्स्ट क्लास डाक बगले मे ठहराया गय। चारो ओर लकदक-लकदक, लेकिन बाबू बिसनूदत्त, दोपहर हुई, एक बज गया, फिर भी कोई साला बात करने नही आया। खाना दूर, एक चुल्लू पानी तक को किसी ने नही पूछा। तभी साहब का चपरासी बुलाने आ गया। जैसा बैठा था वैसे ही मैं उठ खडा हुआ। साहब ने मुझे देखा, त्यौरिया चढ गईं, पूछा, "अबतक गुसल नही हुआ ?"

मैंने कहा, "हुजूर जैसा आप छोड गए थे वैसा ही बैठा हू। कोई आया ही नही।"

फिर तो वह भूचाल आया कि पूछो मत । महाराजा ने डाक बगले के पूरे-के-पूरे अमले को लाइन मे खडा करके हन्टरो से पिटवाया। मैं तो आखे बन्द करके डाक बगले मे जा पडा । आधा घटा भी न बीता होगा कि क्या देखता हू कि डाक बगला गुलजार है । गुसल के लिए गर्म और ठण्डा पानी लिये दो-दो अर्दली मौजूद है । तीसरा अर्दली तेल, साबुन, कपडे और इत्र लिये हाजिर है। तरह-तरह के पकवान, मिठाइयो के थाल-पर-थाल । एक ओर फलो का ढेर लगा है तो दूसरी ओर मेवो की प्लेटे सजी है । हकबका कर मैं बोल उठा, "यह सब क्या है ?"

एक अर्दली आगे बढ कर आदाब बजा लाया । बोला, "हुजूर, आप जल्दी गुसल करके जो खाना हो खाइये, रखना हो रखिये, बाकी हुजूर, हम लोगो ने दस-दस हन्टर इसीलिए तो खाये हैं । आप फिक्र न कीजिए । अब गफलत न होगी ।"

बाबू बिसनूदत्त, तुमसे क्या कहू, जबतक उस रियासत से बाहर नही निकल गया तबतक रूह कापती रही । तो भाई, ऐसे-ऐसे तजरुबे मुझे हुए है और इसपर भी अबतक खानसाहब न बन सका ।

मैने कहा, "बनेंगे शेख साहब ! इस बार इशा अल्ला, आप जरूर खानसाहब बनेंगे ।"

और भाग्य की बात, उस साल शेख मोहम्मद जान खानसाहब बन ही गए । बस अब क्या था ! फूले नही समाते थे। डर था कि कही उनके साथ वही किस्सा न हो, जो कुए की मेढकी के साथ हुआ था । जब उन्हे बधाई देने पहुचा तो वह जी-जान से गम्भीर होने की कोशिश कर रहे थे । हालत यह थी कि जबान से शब्द नही निकलते थे । उडे-उडे फिरते थे । मानो भारहीनता की स्थिति मे पहुच गए हो। जेब मे बहुत-से तार ठूस रखे थे । निकालना कठिन हो गया । किसी तरह एक-एक को निकाल कर दिखाने लगे, "देखो. यह पजाब गवर्नर का तार है। यह महाराजा पटियाला का, यह महाराजा जीन्द का, यह भारत सरकार के होम मेम्बर का ।"

और इस तरह एक सास मे अनेको राजा-महाराजाओ. सरकारी

अफसरो और सरकारी नेताओ के नाम गिनाकर बोले, "ताज्जुब है, इन सबको कैसे पता लग गया। फिर कहा ये, कहा मैं! कभी सोचा भी न था कि मैं सात रुपये का कम्पाउण्डर किसी दिन फर्स्ट क्लास गजटेड आफिसर और खानसाहब बन जाऊगा। यह अग्रेजी राज मे ही हो सकता है।"

फिर उसी सास मे बोले, "अच्छा, अब तुम आ ही गए हो तो इनके जवाब मे एक बढिया-सा ड्राफ्ट तैयार कर दो और हा, दिल्ली कब जा रहे हो ?"

मैंने कहा, "परसो जाना है।"

"तो एक बढिया-सा लेटर पैड छपवा लाना। तुम तो भाई, कहानी छपवाते हो, हा उसका मजमून भी अभी तैयार कर लो। क्या लिखोगे, मैं भी तो देख लू।"

उस ज्वार से बचने का कोई रास्ता नही था। सबकुछ तैयार करके उनके सामने पेश किया तो बडे गर्व और गौरव के साथ पतली कमानी का चश्मा निकाला। साफ करते हुए बोले, "अब तो भाई, इसे बदलवाना ही होगा।" फिर गौर से ड्राफ्ट पढने लगे। एक-एक शब्द पर उछल पडते, "भई, तुम तो सचमुच मुसन्निफ हो। क्या खूब लिखा है! दस्तखत कर दू ?"

करने लगे तो हाथो का कम्पन रुकता ही नही था। बडी कठिनता से पढ पाया, लिखा था, "खानसाहब शेख मोहम्मद जान।"

मैंने अचकचा कर कहा, "यह आपने क्या किया ?"

घबराकर वह बोले, "क्यो, क्या हुआ ?"

मैंने कहा, "दस्तखत करते समय 'खानसाहब' नही लिखा जाता।"

वह हतप्रभ-से मेरी ओर देखने लगे। बोले, "नही लिखा जाता, फिर किसी को यह कैसे पता लगेगा कि मैं 'खानसाहब' हो गया हू।"

किसी तरह उमडती हँसी को भीतर ही रोककर कहा, "पत्र मे सबसे ऊपर जहा आपका नाम लिखा जाता है, उससे पहले मैं लाल रग से बडे अक्षरो मे खानसाहब टाइप कर दूगा।"

बहुत खुश हुए। बोले, "हा—हा, यह ठीक है, लेकिन अगर दस्त-खत मे भी अपनी कलम से लिख सकता तो बहुत अच्छा होता। लेकिन भाई, फण्डामेण्टल और सबसीडीयरी कायदे-कानून तुम्ही जानते हो।"

कल्पना कर सकता हू कि उस दिन असख्य वार उन्होने अपने हाथ से अपना नाम लिखा होगा, 'खानसाहब शेख मोहम्मद जान', जो एक दिन सात रुपये के कम्पाउण्डर थे और आज फर्स्ट क्लास गजटेड आफिसर है। सोचा होगा—काल की छाती पर लिखा यह नाम अब कभी नही मिट सकता।

उस दिन रात को घर आकर देखता हू कि खानसाहब ने मेरे लिए सूखी लकडियो की एक गाडी भिजवाई है। मैं यह बताना भूल गया कि हम कृषि और पशुपालन के बडे फार्म पर काम करते थे। वन के एक भाग के वह इन्चार्ज थे। और उनका सबसे बडा तोहफा था 'सूखी लकडी', जो बस जलती है, तेजी से और जल्दी से जलती है। भोले-भाले खानसाहब उस तेजी से निकलते ही पागल हो गए हो तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही। 'सबमे भले विमूढ, जिन्हे न व्यापै जगत गति।'

: ४ :

प्योत्र बारान्निकोव

कई वर्ष पहले किसी उत्सव मे जाना हुआ था। अचानक देखता हू कि एक विदेशी युवक जो न केवल गौरवर्ण है, वल्कि उसका व्यक्तित्व नारी की-सी कोमलता और मधुरता से ओतप्रोत है, मुख्य द्वार से होकर मुझसे कुछ दूर पर बैठ गया है। शीघ्र ही उसके आसपास आत्मीयता का वातावरण सजग हो आया। और तभी किसी ने मेरे कान मे कहा कि ये श्री बारान्निकोव हैं। रामचरित मानस का जिन्होने रूसी भाषा मे अनुवाद किया है, उन्ही एकेडेमीशियन बारान्निकोव के यह पुत्र

है । रूसी दूतावास के सास्कृतिक विभाग मे अभी-अभी नये आये है ।

ओह ये हैं बारान्निकोव ! कई बार पूछ चुके हैं ।

तभी सहसा बारान्निकोव ने मेरी ओर देखा, मुस्कराये और हाथ जोडकर नमस्कार किया । वह मुस्कान इतनी मधुर, कोमल और इतनी स्नेहसिक्त थी कि नारी भी लजा जाय ।

प्रथम परिचय की यह झाकी न जाने कैसे गहरा उठी । पुरुष मे जब एक सीमा तक नारी के गुण आ जाते है, तो वह पूर्ण हो जाता है । इस उक्ति को मैंने इस रूसी युवक मे मूर्त देखा । गौर वर्ण, दीप्त नैन, मुख पर खेलती सदा एक आत्मीयता से लबालब सहज मुस्कान और वैसा ही सुकोमल शरीर । बोलते है, तो न है उसमे उग्रता, न है व्यर्थ का तीव्र व्यग्य । बस मात्र अपनत्व है जो समूची मानवता को परिवेशमे लिये प्राणवत है । यो व्यग्य करना उन्हे खूब आता है । वह आग्रही नही है या विचारो की दृढता उनमे नही है, यह सकेत भी उनके आस-पास प्रतिध्वनित नही होता । लेकिन उनका व्यग्य और उनकी दृढता जिस प्रकार व्यक्त होती है उसमे तिक्तता का लेश भी नही रहता और न रहती है अपने विरोधी को अपदस्थ करने की भावना । जडे उनकी सुदृढ हैं । इसीलिए उनकी कोमलता मन को खीचती है और स्नेह से आप्लावित करती है ।

बारान्निकोव अत्यन्त सरल हैं, इसलिए अत्यन्त स्नेहिल है । कोई रेखा, कोई वृत्त, कोई सीमा उनके मन को नहीं बाधती, यह बात नही । वह जिस देश के हैं उसकी सीमाए है । भौगोलिक ही नही, सैद्धातिक भी, और वह उन सीमाओ का सम्मान करते हैं । उस समय उनकी आखो मे झाकने का मुझे अवसर मिला है । एक क्षण के लिए भी मैंने वहा न तो सकोच पाया और न द्विविधा । पूरी शक्ति के साथ उन रेखाओ की वह रक्षा करते है । लेकिन उतनी ही शक्ति के साथ वह उन रेखाओ से पूर्ण सहमत न होनेवाले व्यक्ति को स्नेह भी देते है । सह-अस्तित्व मे उनका विश्वास है और उस विश्वास के आधार इतने गहरे है कि सब सहज हो रहता है । आग्रह अखरता नही ।

बारानिन्नकोव का जन्म लेनिनग्राद मे हुआ । उनकी इच्छा अनेक

भापाए सीखने के साथ-साथ इजीनियर बनने की थी, लेकिन ज।ना पडा द्वितीय विश्वयुद्ध मे। सन १६४७ मे वहा से मुक्ति मिलने के बाद वह हिन्दी सम्बन्धी काम मे लग गए। पिता के कारण रामचरित-मानस के प्रति और रामचरित-मानस के कारण हिन्दी के प्रति उनमे अनुराग पैदा हुआ। यही अनुराग उनके जीवन का आधार वन गया और इसलिए जबतक वह भारत मे रहे, किसी ने ऐसा अनुभव नही किया कि वह अभारतीय है। जितना वह घूमे, जितने मित्र उन्होने बनाये, हिन्दी के लिए जितना काम उन्होने किया, उतना बहुत कम विदेशियो ने किया होगा। उन्होने हिन्दी भाषा का जिस दृष्टि से अध्ययन किया, वह विदेशियो के लिए आदर्श है।

केवल वारान्निकोव ही हिन्दी के प्रति अनुरक्त नही है। उनकी पत्नी रीम्मा भी उसी आग्रह के साथ हिन्दी भाषा और साहित्य का अध्ययन कर रही हैं। बारान्निकोव के शब्दो मे कहना चाहिए, "सन १६४६ मे एक लडकी रीम्मा से परिचय हुआ। वह भी १६४७ मे विश्व-विद्यालय मे पढने जा रही थी तो इसे मैंने अपने साथ हिन्दी विभाग मे खीच लिया और सितम्बर १६४८ मे हमारी शादी हुई।"

आज रीम्माजी लेनिनग्राद मे हिन्दी पढाती है और उसी स्कूल मे उनकी वेटी ओलगा (जन्म १६४६) भी हिन्दी पढती हैं। वेटा अलैक्सै-पैत्रोविच बारान्निकोव (जन्म १६५५) भी हिन्दी जानता है। पूरे-का-पूरा परिवार हिन्दी के प्रति अनुरक्त है और यह अनुरक्ति अत्यन्त हार्दिक है।

१६६२ मे लेनिनग्राद जाना हुआ था। मास्को से रात की ट्रेन से चले थे। अगले दिन लेनिनग्राद स्टेशन पर वडी धूमधाम से स्वागत हुआ परन्तु बहुत खोजने पर भी उस भीड मे वह सुकोमल मुस्कराता हुआ, चेहरा दिखाई नही दिया। सोचा, शायद अचानक कही वाहर चले गए हैं। लेकिन जैसे ही होटल मे पहुचा तो सहसा एक सुपरिचित स्वर सुन पडा, "विष्णुजी, विष्णुजी!" रोमाच हो गया। स्वर के सहारे उधर को लपका और दूसरे ही क्षण पाया कि वारान्निकोव गले से चिपक गए है। वोले, "मैं तो तुम्हे स्टेशन पर ढूढता रहा।"

साथी ने कहा, "तबसे पागल-से तुम्हे ही खोजते फिर रहे है ।"

प्राण पुलक-पुलक उठे । पूरे तीन दिन जबतक मै वहा रहा, बारान्निकोव निरन्तर साथ रहे । ज्योतिष के अनुसार जब दो व्यक्तियो के अक मिल जाते हैं तो उनमे सहज स्नेह पैदा हो जाता है । नही जानता, हमारे अक मिलते है या नही, लेकिन बारान्निकोव का स्नेह मुझ एक ही तक सीमित रहा हो यह बात भी तो नही है । उन तीन दिनो मे जिस किसी ने भी जो कुछ जानना चाहा, जो कुछ पाना चाहा, वह यथासम्भव बारान्निकोव ने उनके लिए सहज भाव मे उपलब्ध कर दिया या करा दिया । लेकिन अगर वह नही मिलते तो यह निश्चित है कि मैंले निनग्राद की आत्मा को जरा भी न पहचान पाता । कहा-कहा वह ले गए । क्या क्या उन्होने दिखलाया, "विष्णुजी, हमारे देश मे शादिया कैसे होती है, देखेगे ?" "विष्णुजी, पार्टी को जाने दीजिए, आइए, हम बाजार मे खरीदारी कर लें", "आओ, आओ, नेवा नदी के किनारे घूमे", "हा, हा अध्यापिकाए बुला रही हैं, उनके साथ नाचना होगा ।"

सोचता हू कि क्या मार्गदर्शक शब्द उनके परिचय को व्यक्त कर सकता है ? वह तो मित्र है, मित्र जो आज शब्द रूप मे व्यापक है, लेकिन अर्थ रूप मे तिरोहित हो चुका है । भारत मे एक दिन किसी समारोह मे मिल गए । एक पेग मेरी ओर बढाया, कहा, "पीओ ।"

मैंने उत्तर दिया, 'मैं तो नही पीता ।"

वह मुस्कराये, "तो फिर हमारी मित्रता कैसी ?"

मैंने कहा, मित्रता क्या इस पेग मे भरी हुई है ? और फिर है भी तो तुम पीओगे, मैं पाऊगा ।"

भारत मे या लेनिनग्राद मे, उन्होने मुझसे फिर कभी भी तो आग्रह नही किया । अपने घर पर भी नही किया । मजाक अक्सर करते रहे ।

उनके घर की खूब याद है । दिल्ली के घर की नही, जहा मैं खाना खा चुका हू, बल्कि लेनिनग्राद के घर की । शहर के पुराने भाग मे वह रहते है । लम्बे-चौडे जीने पर चढकर जब मैं एक बहुत ऊचे किवाडोवाले द्वार के सामने पहुचा तो ऐसा लगा, जैसे मैं आधुनिक युग से बहुत अलग पड गया हू । मकान डेढ-सौ वर्ष पुराना तो होगा ही । भीतर

भी सबकुछ अस्तव्यस्त था । वह बिल्कुल अकेले थे और अकेला व्यक्ति, वह भी पुरुप, घर जैसा सभाल सकता है, वैसा वह था। लेकिन भारतीयता वहा प्रत्यक्ष थी । मात्र अस्तव्यस्तता मे नही, दीवारो पर सभी चित्र भारत और भारत-प्रवास के सम्बन्ध मे थे । लायब्रेरी-कक्ष मे लगभग ७ हजार हिन्दी की पुस्तको का विशाल भण्डार था । व्यवस्था ऐसी पूर्ण कि क्षण भर मे पुस्तक और उसके लेखक का पूरा परिचय मिल जाय । चित्र तक रखे हुए हैं ।

उस दिन उस घर की अवस्था देखकर सहसा मुझे वह दिन याद आ गया जब बारान्निकोव-दम्पति भारत मे एक दिन चुपचाप बिना सूचना दिये हुए मेरे घर पहुच गए थे और रीम्माजी हम लोगो की परिपाटी का ध्यान रखकर मिठाई का डिब्बा ले जाना नही भूली थी। वैगर मे चाय पीकर एकाएक वह बोली, "अपने घर चलो ।"

"अभी ?"

"हा ।"

मैंने कहा, "तो फोन कर दू ?"

वे बोले, "न, ऐसे ही चलो ।"

वे हमे अपने सहज रूप मे देखना चाहते थे । सबको आश्चर्य मे डालते हुए उस दिन उन्होने जिस आत्मीयता का परिचय दिया था वही आत्मीयता इस घर के वातावरण मे मुझे दिखाई दी । सन्तोप हुआ कि लेनिनग्राद और भारत चाहे कितने भी दूर क्यो न हो, उनके जीवन मे, रहन-सहन मे और व्यक्तियो मे काफी समानता है ।

रीम्माजी न केवल हिन्दी पढाती हैं, बल्कि समय-समय पर भारत के सम्बन्ध मे आकाशवाणी पर बोलती भी रहती है । एक पुस्तक भी उन्होने लिखी है । कुछ ही दिनो मे उन्होने भारतीय जीवन की विशेषताओ का बडी लगन के साथ अध्ययन किया । एक-एक बात को लेकर वह गहराई मे जाती थी । एक बार वह उन शब्दो का सकलन करने मे व्यस्त हो उठी, जिनका पुरानी परिपाटी के लोग उच्चारण नही करते थे । वे लोग साप को 'साप' नही 'देवता' कहते थे । चूडी टूटने को 'होना', दूकान बन्द करने और दीया बुझाने को 'बढा देना' कहते थे ।

सयुक्त-परिवार-प्रणाली का भी उन्होने अध्ययन किया और हमारे परिवार मे इसीलिए विशेष रुचि ली ।

रीम्माजी जहा पारिवारिक और सामाजिक जीवन का अध्ययन करती रही, बारान्निकोव ने वहा हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया । उन्होने हिन्दी व्याकरण जैसे शुष्क विषय को लेकर कई पुस्तको का रूसी भाषा मे अनुवाद किया है । भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उन्होने प्रेमचन्द की कई कहानियो का अध्ययन किया है। ललित साहित्य का भी अनुवाद किया है । दोनो ने मिलकर अश्क के उपन्यास 'चेतन' तथा मेरी दो दर्जन कहानियो का अनुवाद अभी-अभी प्रकाशित किया है ।

बारान्निकोव-परिवार को देखकर कभी-कभी भ्रम होने लगता है कि वे भारतीय तो नही हैं । रूप-रग मे अन्तर हो सकता है, लेकिन जहा तक आत्मा का सम्बन्ध है, वह सोलह आने भारतीय हैं । पुनर्जन्म सत्य है या नही, लेकिन भारतीय मान्यता के अनुसार बारान्निकोव या तो पिछले जन्म मे भारतीय थे या फिर अगले जन्म मे भारतीय होगे । हिन्दी के सम्बन्ध मे अबतक वह लगभग १०० से ऊपर पुस्तकें अथवा लेख लिख चुके हैं । काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के आजीवन सदस्य हैं । विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध सस्थान के पत्र-व्यवहारी सदस्य हैं । रूस-भारत सास्कृतिक समिति के तो वह प्राण हैं । वह भारत के मित्र, हिन्दी साहित्य के साधनाशील पाठक और शोधक तो हैं ही, लेकिन मानवता मे जो कुछ सहज-मधुर है, उसके वह सच्चे प्रतीक भी हैं । इसीलिए एक क्षण के लिए भी जब वह किसी के सम्पर्क मे आ जाते हैं तो वह उन्ही का हो रहता है । उस दिन जस्टिस तेजासिह से बाते हो रही थी । न जाने किधर से होकर बारान्निकोव का जिक्र आ गया । वह मुस्कराकर बोले, "अच्छा, वह बारान्निकोव, जो छोटे-से खूबसूरत व्यक्ति हैं । मैं प्रथम श्रेणी मे रेल-यात्रा कर रहा था कि किसी स्टेशन पर वह भी उसी कक्ष मे आ गए । मैंने अग्रेजी मे कुछ पूछा तो वह तुरन्त बोले, 'आप अपनी, देश की, राष्ट्रभाषा हिन्दी मे क्यो नही बात करते ? अपने देश मे अपने ही विचारो को व्यक्त करने के लिए आप आज भी विदेशी भाषा का आश्रय लेते हैं । क्या सचमुच आप स्वतन्त्र हो गए हैं ?'

मै सचमुच उस दिन लाज से गड गया ।''

एक नही, ऐसी अनेक घटनाए मैने सुनी । स्वय भी उनकी मीठी ताडना अनेक बार मुझे मिली है । अग्रेजी बोलते सुनकर वह कह उठते, "आप लोग अग्रेजी के कैसे दास बन गए हैं, उसके बिना काम ही नही चला पाते । मुझे भी अग्रेजी आती है, और भाषाए भी जानता हू, लेकिन अपनी बात जितनी अच्छी तरह अपनी मातृभाषा मे कह सकता हू, उतनी अच्छी तरह किसी विदेशी भाषा मे नही ।"

अग्रेजी की यह दासता हमारे रक्त मे घुल-मिल गई है और आज भी जब वह सब प्रयत्नो के बावजूद मुझ पर हावी हो जाती है तो बारान्निकोव का वह व्यग्य से मुस्कराता चेहरा आखो मे उभर उठता है, मानो कहते हो, "देखा, तुम स्वतन्त्र कहा हो ?"

और तब मैं जैसे सजग हो उठता हू । बारान्निकोव और रीम्मा हमारे लिए विदेशी नही है । हमारे अपने है । विश्व-परिवार की दृष्टि से नही, अपने सीमित परिवार की दृष्टि से भी । क्या यह आश्चर्य की बात नही है ? जब यह आश्चर्य सहज होगा, तभी विश्व का वैषम्य दूर होगा । उसकी नीव पड चुकी है । बारान्निकोव-परिवार उसी नीव की ईंट है ।

: ५ :

फाया अनुमान राजधन : एक इण्टरव्यू

जिस समय हम थाई भारत कल्चरल लॉज के प्रधान श्री राजधन के बगले पर पहुचे तो बैंकाक सन्ध्या के आवरण मे घिरता आ रहा था । कुछ पैडिया चढकर हमने एक हॉल मे प्रवेश किया, जिसके दाहिनी ओर के एक प्रकोष्ठ मे सोफे पडे हुए थे । शायद यही पर वह अपने अतिथियो से मिलते है । हम लोग भी वही बैठ गए । मेरे संग थाई-भारत कल्चरल लॉज के प्रमुख प० रघुनाथ शर्मा तथा 'जीवन साहित्य'

के सम्पादक श्री यशपाल जैन थे। हम दोनो साथ-साथ ही दक्षिण-पूर्व एशिया की यात्रा पर थे। तभी देखता हू कि बाईं ओर एक बहुत बडा क्लाक लगा है और उसमे पूरे सात बज रहे है। मिलने का यही समय तो निश्चित हुआ था। खुशी हुई कि हम ठीक समय पर पहुच गए हैं। इस प्रकोष्ठ मे विशेष रूप से हमारा ध्यान खीचनेवाली एक आलमारी थी, जिसमे बहुत-सी पुस्तकें सुघडता से रखी हुई थी। पास ही एक और कमरा था। उसमे रखा हुआ टेलीविजन का बडा सेट दिखाई दे रहा था। उस समय कोई विशेष कार्यक्रम चल रहा था, क्योकि एक युवती सहज भाव से पैर फैलाये फर्श पर बैठी उसे देख रही थी।

इसी समय श्री राजधन ने वहा प्रवेश किया। उनकी आयु ७२ वर्ष की है, लेकिन वे हँसमुख है। इसीलिए स्वास्थ्य ने उनसे छल नही किया है। थाई भाषा मे राजधन का उच्चारण रचथौन होता है। इसी नाम से वह यहा लोकप्रिय हैं। नमस्कार और परिचय आदि के अनन्तर जब हम लोग फिर से बैठे तो मैंने उन्हे याद दिलाया, "मुझे आपसे मिलने का सौभाग्य एक बार पहले भी प्राप्त हो चुका है।"

उन्होंने आश्चर्य से मेरी ओर देखा। मैने कहा, "आपको शायद याद नही रहा। यह मार्च १९४७ की बात है। आप एशियाई देशो की कान्फ्रेंस मे अपने देश के प्रतिनिधि मण्डल के नेता बनकर दिल्ली गये थे। वहा आपने मेरे साथ विस्तार के साथ थाई और भारत की सास्कृतिक एकता की चर्चा की थी।"

एक क्षण मैं उनके मुख के भाव देखने के लिए रुका। वह तन्मयता से मेरी बात सुन रहे थे। मैंने कहा, "मुझे ठीक याद है कि आपने 'व्यग्य' करते हुए कहा था, 'तुम लोग अपनी सस्कृति को भूलते जा रहे हो', लेकिन हमने उसे आज भी सुरक्षित रखा है। हम लोग हाथ जोड़ कर नमस्कार करते हैं। 'स्वस्ति' शब्द का प्रयोग करते है। विवाह की रीति भिन्न है, परन्तु मण्डप उसी तरह बनाते है। वर-वधू पर शख मे पवित्र नदियो का जल लेकर छिडकते है। हमारी भाषा भी सस्कृत से अत्यधिक प्रभावित है। देखिये, मेरा शुद्ध नाम अनुमान राजधन है। लेकिन इसका स्यामी उच्चारण अनुमान रचथौन है।"

वह मुस्कराये और बोले, "बडी पुरानी याद दिलाई आपने। बहुत दिनो की बात है। उसके बाद मैं बौद्ध महासम्मेलन मे भाग लेने १९५५ मे फिर दिल्ली गया था और अशोका होटल मे ठहरा था। बहुत कम लोगो से मिलना हुआ। बस अनेक राते रेल मे ही कटीं। आगरा, फतहपुर, आरा, बोध गया आदि होता हुआ कलकत्ता से यहा लौट आया था।"

इन्टरव्यू कैसे लिया जाय, इसका स्पष्ट चित्र कम-से-कम मेरे मन मे नही था। यशपालभाई इस सम्बन्ध मे अधिक सजग हैं। लेकिन उस दिन बातचीत का क्रम ऐसे शुरू हुआ कि कुछ सोचने की आवश्यकता ही नही रही। पूछा, "आपने भारत के बारे मे कुछ लिखा है ?"

वह बोले, "हा, कुछ लेख लिखे हैं। कठिनाई यह है कि मैं अधिक पढ नही पाता। अब देखिये, गाधीजी पर एक लेख लिखना है। सामग्री के लिए भारतीय दूतावास को लिखा है। मिल गई तो उसका अनुवाद कर दूगा। इसी तरह जब मुझे कन्फ्यूशियस पर लिखने की आवश्यकता हुई तो मैंने चीनी दूतावास को लिखा और वहा से जो सामग्री मिली उसका अनुवाद कर दिया। अब यह कोई लिखना हुआ ? तीन महीने बाद कन्फ्यूशियस की जयन्ती मनाई जानेवाली है। मुझे बोलने के लिए कहा गया है। उसी लेख के आधार पर बोल दूगा।"

यह कह कर वह हँस पडे। है न वही बात—"टु कैरी कोल टु न्यू-कैसल।" अर्थात—उलटे बास बरेली को।'

हम लोग भी हँस पडे। उन्होने तुरन्त गम्भीर होकर कहा, "इस समय मे थाई-विश्वकोश के निर्माण मे लगा हू। 'नेशनल गजेटियर आव थाईलैण्ड' भी हाथ मे है। लगभग दो हजार पृष्ठ का होगा। लेकिन यह 'इम्पीरियल गजट आव इण्डिया' की तरह का नही है। 'थाई करेण्ट वर्ड्स' की डिक्शनरी का काम भी कर रहा हू। उसमे चार-पाच वर्ष लग जायगे। इसके अतिरिक्त थाई-इतिहास के सशोधन का काम भी मेरे जिम्मे है।"

वह फिर मुस्कराये। बोले, "अब देखो न, कितने काम है। असल मे हमारे यहा स्कालर बहुत कम है। मैं ही तो हू।"

और वह जोर से हस पडे । उस हसी मे हमने भी योग दिया और जब उसका जोर कुछ कम हुआ तो मैंने पूछा, "आपने मौलिक भी कुछ लिखा है ?"

वह बोले, "जी हा, थाई के रीति-रिवाज, नारी-समाज, सस्कृति, विवाह-पद्धति आदि के बारे मे कुछ पुस्तिकाए लिखी हैं । एक का अनुवाद मैंने स्वय किया था, अग्रेजी मे । 'लाइफ आव ए फार्मर इन थाईलैण्ड ।' कुछ लेख भी लिखे है । लेकिन मैं अग्रेजी भी तो इतनी अच्छी नही जानता ।"

"वर्तमान साहित्य, अर्थात उपन्यास, नाटक, कहानी आदि की आपकी भाषा मे क्या स्थिति है ?"

"उनका विकास हो रहा है । नये-नये लेखक सामने आ रहे है, परन्तु मुसीबत यह है कि इनका अध्ययन बहुत कम है । फिर वे पैसे के लिए ही लिखते है ।"

"और अनुवाद की क्या स्थिति है ?"

"सरकार कुछ कर तो रही है, लेकिन अभी तक हमारे यहा 'बर्मा ट्रासलेशन सोसाइटी' जैसी कोई सस्था नही है ।"

हमने पूछा, "आपको शायद मालूम होगा कि यूनेस्को ससार की विभिन्न भाषाओ के उत्तम ग्रथो का अनुवाद करा रहा है । हमारे देश के रामायण और गीता आदि प्राचीन ग्रथो के अतिरिक्त वर्तमान साहित्य से भी पुस्तकें ली है । उनमे हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक मुन्शी प्रेमचन्द का उपन्यास 'गोदान' भी है । क्या थाई-भाषा का भी कोई ग्रथ चुना गया है ?"

वह बोले, "अभी नही । आपकी हमारी तुलना ही क्या है ! आपके यहा कितने विश्वविद्यालय है ! हमारे यहा तो केवल एक ही है ।"

यशपालजी का प्रिय विषय है दो देशो के बीच सास्कृतिक आदान-प्रदान । वह बोले, "दो देशो के राजनैतिक सम्बन्ध स्थायी नही होते, लेकिन साहित्यिक और सास्कृतिक सम्बन्धो की जड़ें गहरी होती है, उनके आदान-प्रदान पर ही हमे जोर देना चाहिए । यह इसलिए और भी अधिक आवश्यक है, क्योकि आजकल दुनिया मे राजनैतिक विग्रह

बढ रहे है ।"

वह बोले, "आप ठीक कहते है । पर हमारे सामने अनुवाद की कठिनाई है । पैसा भी चाहिए । प्रकाशक भी नही है । हा, फिर भी 'थाई-भारत सास्कृतिक लॉज' जैसी सस्थाए इस सम्बन्ध मे कुछ कर सकती है ।"

"थाई भाषा के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान नही के बराबर है, लेकिन हमारा विश्वास है कि कुछ चुनी हुई लोकप्रिय पुस्तको का अनुवाद भारतीय भाषाओ मे हो सके तो प्रकाशन की व्यवस्था करने मे कोई कठिनाई नही होगी । देखिये, गुजराती के एक सुप्रसिद्ध लेखक है मेघाणी । बर्मा के जीवन पर उन्होने एक उपन्यास लिखा है । मराठी और हिन्दी मे भी उसका अनुवाद प्रकाशित हो चुका है । ऐसी पुस्तकें हो तो अनुवाद कराया जा सकता है ।"

"आपकी बात ठीक है, लेकिन अनुवाद करना कोई सरल काम नही है । भारतीय दूतावास के थर्ड सेक्रेटरी श्री ने थाई भाषा सीखी थी । मैं उनका परीक्षक था । जाच करने पर यही कह सका कि इन्हे पास किया जा सकता है । लेकिन "

फिर उन्होने पडित रघुनाथ शर्मा की ओर इशारा करते हुए कहा, "हा, पण्डितजी का थाई-भाषा का ज्ञान बहुत अच्छा है ।"

"पण्डितजी अत्यन्त विनम्र व्यक्ति है, परन्तु अकेले वह क्या कर सकते है ! योग्य व्यक्ति के अभाव मे यह काम बहुत प्रगति नही कर सका । गाधीजी की किसी भी पुस्तक का अनुवाद नही हुआ है । नेहरू-जी की केवल एक ही पुस्तक का अनुवाद पण्डितजी करा सके है और वह है 'मेरी कहानी' ।"

सहसा हमारी दृष्टि घडी पर गई । पौने आठ बज रहे थे । बाहर अधेरा भी बढ रहा था । पर ये तो पूर्व के देश हैं, जहा अन्धकार पारदर्शी होता है । ऐसा लगता था मानो उजाला कुछ धूमिल हो चला हो । पण्डितजी ने कहा, "कोई जल्दी नही है ।"

और इण्टरव्यू चलता रहा । बीच मे थाई-सेविका शर्बत लेकर

आई और जैसा कि इधर के देशो मे होता है, बडी विनम्रता से मुख पर मुस्कान लिये और घुटने टेककर उसने हममे से प्रत्येक को एक-एक गिलास दिया। इन देशो का शिष्टाचार देखकर बडा अदभुत लगता है। श्रद्धा भी होती है। इसी बात को लेकर न जाने कैसे व्यक्तिगत चर्चा चल पडी। श्री राजधन बोले, "मैं छ बजे भोजन कर लेता हू। धीरे-धीरे शाकाहारी होता जा रहा हू। अब तो दूध भी नही लेता।"

मैंने कहना चाहा कि क्या वह महात्मा गाधी की तरह दूध को मास की श्रेणी मे मानते है, लेकिन वह तुरन्त बोल उठे, "असल मे मैं फैट से बचना चाहता हू।"

तभी सहसा मुझे उनके दिल्ली-प्रवास की याद आ गई। मैंने देखा था कि वह वहा अकेले रहना ही पसन्द करते थे। पूछने पर उन्होने बताया था "यहा शोर बहुत है और मुझे शोर पसन्द नही है।"

मैंने अनुभव किया कि शोर से वह यहा भी बचना चाहते हैं और अधिक-से-अधिक समय लिखने मे ही बिताते है। पर हम तो उनसे बहुत-कुछ जान लेना चाहते थे। वह उच्च कोटि के विद्वान है और इन देशो मे रामायण का बहुत प्रचलन है। यहा के लोग रामायण की मनौती तक मनाते है। मनौती पूरी होने पर मन्दिर मे जाकर राम-लीला करवाते है। सावित्री-सत्यवान की कथा को लेकर नाटक भी यहा होते है। इसलिए यह स्वाभाविक था कि उनसे हम रामायण के सम्बन्ध मे चर्चा करते। मैंने कहा, "थाई-भारत सस्कृति मे सचमुच बडा साम्य है। आज हम वाट (मन्दिर) देखने गये थे। उनकी दीवारो पर रामायण के अनेक प्रसग अकित हैं।"

वह मुस्करा कर बोले, "जी हा, सगमरमर पर बहुत से प्रसग खुदे है, लेकिन वे किस रामायण के आधार पर है, यह बताना कठिन है। विभिन्न देशो मे रामायण के अलग-अलग विवरण मिलते हैं।"

"आपने कौन-सी रामायण पढी है ?"

"कई पढी है, पर मैं अध्यात्म रामायण को आधार मानता हू। आपके देश मे भी तो रामायण के कई रूप है। वाल्मीकि, तुलसी, कम्बन, कृत्तिवास आदि-आदि। इसी प्रकार इण्डोनेशिया, वियतनाम,

मलाया, कम्बोदिया और बर्मा के अपने-अपने रूप है।"

"सुना है, बर्मा मे तो रामायण यही से गई थी ?"

"जी नही, वहा कम्बोदिया से गई थी।" और वह हँस पडे। बोले, "पता नही कैसे और क्यो बर्मी लोग थाईलैण्ड को छोडकर कम्बोदिया पहुच गए।"

तभी अचानक उन्हे याद आया कि हमारे कार्यक्रम के बारे मे तो उन्होने कुछ पूछा ही नही। बोले, "आप कब आये, कहा ठहरे है, बैंकाक मे क्या-क्या देख चुके है ?"

हमने उन्हे अपने कार्यक्रम के बारे मे बताया। कहा, 'अभी तो कुछ विशेष नही देख सके है।"

वह बोले, "म्यूज़ियम अवश्य देख लीजिए। उसमे आपको हनुमान-जी मिलेगे। लेकिन वह भारत के बाल-ब्रह्मचारी हनुमान नही हैं। उनके अनेक विवाह हुए हैं। उनकी प्रेम-कहानी लिखी जाय तो दो हजार पृष्ठो मे आयगी, यहातक कि उन्होने एक मत्स्य कन्या से भी विवाह किया था।"

मैंने कहा, "जी हा, इसकी चर्चा तो हमारी रामायण में भी है, लेकिन उसका रूप कुछ और है। उन्होने मछली से एक पुत्र उत्पन्न किया है, लेकिन पसीने के द्वारा। लका-दहन की थकान उतारने के लिए जब उन्होने समुद्र मे स्नान किया तो एक मछली उनका पसीना पी गई थी। उसीसे उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ।"

वह बोले, "जी नही, हमारे हनुमान ने सचमुच ही मत्स्य-कन्या से विवाह किया था और वह रावण की बेटी थी। जब रामचन्द्रजी समुद्र पर पुल बाध रहे थे तो उसमे अडचन डालने के लिए रावण ने उसे भेजा था। समुद्र के गर्भ मे रह कर वह पत्थरो को नीचे खीच लेती थी। इस रहस्य की खोज करने के लिए हनुमान नीचे गये और वहा उन्होने रावण की उस बेटी से प्रेम करके उसे अपने वश मे किया था। तो स्त्री-लावण्य के लोभी हमारे हनुमान ऐसे महापुरुष है।"

और वह जोर से हस पडे। हम सब भी खूब हँसे। रचथीन परि-हासप्रिय व्यक्ति है। व्यग्य भी कर लेते हैं। बोले, "एक और बात

वताता हू । हमारे हनुमान सीता-राम के पुत्र हैं ।"

इस पर रामायण के विभिन्न रूपान्तरो की चर्चा गम्भीर हो उठी। मैंने कहा, "क्या आप यह नही मानेंगे कि आरम्भ मे राम की कहानी लोककथा के रूप मे लोकप्रिय थी । उसीके आधार पर विभिन्न कालो मे विभिन्न लेखको ने अपनी-अपनी पुस्तकें अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार लिखी ।"

वह बोले, "जी हा, आप ठीक कहते हैं । यही हुआ है । अच्छा हा, क्या आपने एमराल्ड बुद्धा का मन्दिर देखा है ? उसके प्रकोष्ठ की एक मील लम्बी दीवार पर पूरी रामायण चित्रित है ।"

"जी हा, हमने उसकी बहुत प्रशसा सुनी है । उसको देखने के लिए ही हम रुक गए हैं ।"

यह सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुए और साहित्य के आदान-प्रदान की जो चर्चा शर्माजी पर आकर रुक गई थी, उसीके सूत्र को फिर से पकडते हुए बोले, "देखिये, आदान-प्रदान का यह काम शर्माजी बहुत अच्छी तरह कर सकते है ।"

शर्माजी हाथ जोडकर बोले, "मैं तो अब ६३ वर्ष का हो गया हू ।"

वह शरारत मे हँसे । कहा, "तो इसमे ९ और जोड दीजिये । मैं तो ७२ वर्ष का हू । पिछले दिनो जब हागकाग जाने की बात उठी थी तो डाक्टरो ने मुझसे कहा था कि अब हम आपकी जिम्मेदारी नही लेते । लेकिन मैंने उनकी चिन्ता नही की । वास्तव मे वे लोग तो इन्श्योरेन्स के कारण ही ऐसा कह रहे थे, नही तो और क्या कारण हो सकता है ?"

कुछ देर हम लोग गाधीजी की चर्चा करते रहे । काफी समय बीत गया था, इसलिए हमने उनसे आज्ञा चाही । उन्होने म्यूजियम देखने के लिए एक पत्र हमे दिया । बोले, "आप लोग स्वय जायगे तो आपको एक टिकट लेना होगा, लेकिन इस पत्र के रहते हुए उसकी आवश्यकता नही होगी । इसके अतिरिक्त, एक व्यक्ति विशेप रूप से आपके साथ रहेगा ।"

हम लोग उठे। वह तुरन्त बोले, "आप अपने पते तो छोड जाइये।"

यह कहते हुए वह अन्दर चले गए और एक कागज ले आये। बोले, "क्या आप जानते है कि आपके आने से मेरी पत्नी बहुत प्रसन्न है ?"

"भले व्यक्ति किसी के भी आने से प्रसन्न ही होते है।"

वह हँस पडे, "जी हा, सो ता है; लेकिन उनकी इस प्रसन्नता का एक और भी कारण है। जितनी देर आप रहे, मुझको बहुत आराम मिला। इस बात से वह बहुत खुश हैं।"

हमने सप्रश्न उनकी ओर देखा। वह मुस्कराते हुए बोले, "आप समझे नही ? आप यदि नही आते तो इतनी देर मैं लिखता ही रहता। मेरे निरन्तर काम करते रहने पर उन्हे बडी परेशानी होती है। मेरे स्वास्थ्य के कारण।"

बाते करते-करते हम लोग वडे हाल मे पहुच गए थे। उनकी पत्नी वही बैठी हुई थी। उनके पास जाकर हमने प्रणाम किया। युवा अवस्था मे वह सचमुच ही सुन्दर रही होगी। किंचित दुबली और लम्बी, वह खूब हँसती है और खूब पान खाती है। पण्डितजी से उन्होने थाई भाषा मे कुछ बाते की। वह सचमुच अपने पति के स्वास्थ्य के बारे मे चिन्तित रहती है। जब पण्डितजी ने उन्हे श्री रथचौन की अन्तिम बात बताई तो वह खिलखिला कर हँस पडी, देर तक हँसती रही। बोली, "सचमुच ही मुझे बहुत खुशी हुई है। यह हर वक्त लिखते रहते हैं, बस लिखते रहते है।"

हम लोग तबतक बाहर की ओर मुड गए थे। अन्तिम प्रश्न पूछा, "अब आप लोग भारत कब आ रहे हैं ?"

वह बोले, "कुछ नही कह सकता। अब सफर करना सुविधाजनक नही रहा।"

तवतक उनकी लडकी भी हम लोगो मे आ मिली थी, लेकिन वह सारे समय हँसती ही रही। वे सब लोग बाहर तक हमे नमस्कार कहने के लिए आये। यशपालजी ने कहा, "हमारी प्रार्थना है कि आप दीर्घजीवी हो और नई पीढी को आपका मार्गदर्शन मिलता रहे।"

फाटक की खिडकी से निकलने के पूर्व उन्होने हाथ जोडे। बोले,

"अव मैं आपको 'स्वस्ति' कहूगा ।"

हम लोगो ने भी 'स्वस्ति' कहा और वह मुड गए । हम लोग भी अपने रास्ते पर आगे बढ चले ।

इस वातचीत से कितना-कुछ मिला, यह खतिया कर देखना व्यर्थ है । पर इतना स्पष्ट है कि अपेक्षाकृत इन कम विकसित देशो की तरफ, जो सास्कृतिक सम्बन्धो के कारण हमारे बहुत पास है, भारत का ध्यान जितना चाहिए था, उतना नही गया है । सोचता हू, क्या कोई इस चुनौती को स्वीकार करेगा ! जहा तक हमारा सम्बन्ध है, ७२ वर्ष के इस अनथक साधक के प्रति हमारा हृदय श्रद्धा से भर-भर उठा था ।

: ७ :

मामा वरेरकर

किसी व्यक्ति से, विशेषकर किसी गुरुजन से, आयु के वारे मे पूछना निरा दुस्साहस है । लेकिन एक मित्र ने मामा वरेरकर से पूछ ही लिया, 'मामा, आपकी आयु क्या है ?"

"मामा सहज भाव से मुस्कराये, वोले, "यही सात-आठ वर्ष ।"

"सात-आठ वर्ष ?"

"हा, मैं सात-आठ वर्ष का ही तो हू ।"

एक क्षण स्तम्भित रहकर वह मित्र खिलखिला उठे, "समझा, तो आपकी आयु ७८ वर्ष की है ।"

मामा ने हँसते हुए कहा, "मैं तो अपने को ७-८ वर्ष का वालक ही समझता हू ।"

मामा का व्यक्तित्व और स्वभाव इस छोटे से परिहास से स्पष्ट हो जाता है । ७८ वर्ष की आयु मे उनकी यह परिहास-वृत्ति और हृदय-रोग से पीडित होने पर भी उनकी सतत जागरूक कार्य-क्षमता

को देखकर कौन कह सकता था कि उनके वृद्ध शरीर मे किसी-युवक की आत्मा का निवास नही था। वह बडे गर्व के साथ कहा करते थे कि भारत के प्रधानमत्री प० नेहरू मेरे पडोसी है। साउथ एवेन्यू के सबसे अन्त मे उनका निवास-स्थान भारत के प्रधानमन्त्री के निवास-स्थान के ठीक सामने था। लेकिन परिहासप्रिय मामा कैसे कहे कि वह प्रधानमन्त्री के पडोसी है। और परिहास क्यो, साहित्यकार क्या राज-नीतिज्ञ के पीछे चलता है! वह तो महाकाल का स्वामी है। और राजनीतिज्ञ का यश काल-सापेक्ष है। यह दूसरी बात थी कि हमारे प्रधानमन्त्री नेहरू केवल राजनीतिज्ञ नही थे, राष्ट्र-पुरुष भी थे और उनके प्रति मामा का आदर भी किसी तरह कम नही था। वह भी मामा का आदर करते थे। उन्ही के आग्रह पर वह राज्यसभा मे थे और यह मात्र सयोग ही था कि चार महीने बीतते न बीतते वह भी प्रधानमत्री की राह चले गए।

मामा के निवास-स्थान पर सदा अट्टहास की ध्वनि गूजती सुनाई देती थी। वह न शान्त बैठते थे और न किसी को शान्त बैठने देते थे। मुक्त भाव से पुराने किस्से सुना-सुना कर हँसाते। अनकहनी भी कह देते। उनके श्रोताओ मे युवक, वृद्ध, राजनेता, साहित्यिक, छोटे-बडे अधिकारी, स्त्री-पुरुष सभी होते थे। वह मुक्त मन से अतिशयोक्ति का प्रयोग करते थे। इसलिए उनके आलोचक भी थे, विशेषकर मराठी-साहित्य-जगत मे उनका बहुत मान नही रह गया था। सभी भाषाओ के पुराने लोग इतिहास की कडी बन कर रह जाते है। पर जीवन-शक्ति के धनी मामा अक्सर उद्विग्न हो उठते, पूछते, "अरे, हिन्दी मे भी क्या यही सब लिखा जा रहा है? मराठी मे तो समझ मे नही आता, क्या लिखते है?"

मैं कहता, "मामा, सब कही यही हाल है। और यह स्वाभाविक भी है। आप-तो-आप, मैं भी पुराना पड गया हू। युग आगे बढता है।"

मामा कुछ कहने को व्यग्र हो उठते। फिर मेरी ओर देखकर सहसा चुप हो जाते, मानो कहते हो, अरे, क्या युग आगे बढता है!

आज चारो ओर साहित्य के आदान-प्रदान की माग उठ रही है,

लेकिन मामा की अनुभवी आखो ने अन्तर्प्रान्तीय मैत्री और स्नेह के इस साधन को बहुत पहले ही देख लिया था। बंकिम (१४ जिल्द), रवीन्द्र, प्रभात कुमार, (७ जिल्द) और शरत (३६ जिल्द) साहित्य का मराठी भाषा मे अनुवाद करके उन्होने मराठी-साहित्य की अनुपम सेवा की। ८० वर्ष की अवस्था मे बडी तत्परता से रवीन्द्र-साहित्य का अनुवाद करते मैंने उन्हे देखा है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि भूषण ने शिवाजी की प्रशस्ति मे बहुत-कुछ लिखा है। मामा को शिकायत थी कि महाराष्ट्रवालो ने इस तथ्य की ओर ध्यान नही दिया। इधर वह कुछ दिनो से मुझसे बार-बार कह रहे थे, "अरे, तुमने भूषण की जीवनी खोजी कि नही, मुझे उसके बारे मे विस्तार से लिखना है। महाराष्ट्रवाले उस ऋण से उऋण नही हुए हैं।"

काश, वह उस ऋण से उऋण हो सकते, लेकिन मृत्यु ने इन्हे यह अवसर नही दिया।

एक गोष्ठी की याद आती है। कोकण के प्रतिभाशाली नवयुवक-कवि के साथ मामा सन ४६ मे भारत-भ्रमण कर रहे थे। उसी समय मेरा उनसे प्रथम परिचय हुआ। उनके स्वागत मे हुई रामजस कालेज के प्रागण मे एक गोष्ठी मे प्रसगवश उन्होने कहा कि बगाली साहित्य मे सैनिक वृत्ति की नारी के दर्शन नही होते। शरत की नारी उसके बिल्कुल विपरीत गठन की है।

सहसा गोष्ठी मे उपस्थित एक बग महिला उठी और प्रतिवाद करने लगी। मामा मुस्कराये। बोले, "तुम समझती हो कि मैं शरत का विरोधी हू। अरे, मै तो उनका व्यक्तिगत मित्र हू। मैंने सम्पूर्ण शरत-साहित्य का मराठी मे अनुवाद किया है। वह क्या बिना प्रेम के सम्भव हो सकता था ?"

उसके बाद महिला को कुछ कहते नही बना। मामा शरत के बहुत समीप रहे है, उन्होने मुझे उनके अन्तरग जीवन की सुन्दर झाकी दी थी। उनके वैवाहिक जीवन की चर्चा चलने पर वह बोले, "शरतबाबू ने मुझसे कहा था कि सतान नही चाहता। मेरा जीवन जैसा बीता है, सब

जानते है। शरीर मे नाना रोगो ने घर बना लिया है। इस 'पैतृक दाय' को अपनी सन्तान को देकर मैं उसका जीवन नरक नही बनाना चाहता।"

चर्चा और आगे बढी। मैंने कहा, "मामा, शरत पर लोग तरह-तरह के आरोप लगाते है। लेकिन मैं तो समझता हू, वह ऋषिकल्प थे। जानवरो के प्रति उनका प्रेम अदभुत था।"

मैं अपना वाक्य पूरा भी न कर पाया था कि मामा बोल उठे, " हा-हा, तभी तो वह मुझे इतना प्रेम करते थे।"

कमरे मे उपस्थित सभी व्यक्ति मेरी ओर देखकर अट्टहास कर उठे। हतप्रभ-सा मैं उन्हे देखता ही रह गया। किसी तरह कहा, "मामा, मैंने आपके लिए नही कहा।"

बोले, "अरे, मैं कहता हू कि मैं जानवर ही तो हू।"

जो अपने पर हँसता है, वही सचमुच हँसता है। इस आयु मे इतनी सजीवता इसी मुक्त परिहास के कारण थी। और इस कारण भी थी कि मामा नवयुवको और नवयुवतियो की सगति अधिक पसन्द करते थे, जैसे वह यह स्वीकार करना ही नही चाहते थे कि वह बूढे हो गए है। पैरो की शक्ति जवाब दे चली थी, लेकिन मृत्यु के एक सप्ताह पूर्व तक वह बिना सहारे के चलने का आग्रह करते रहे। गत वर्ष जब सगीत-नाटक अकादमी ने उन्हे फैलो चुना तो वृद्ध पुरुषो मे वही अकेले थे, जो सीना तानकर सम्मान स्वीकार करने गये थे।

और उन्हे इस बात का गर्व था। स्पष्ट शब्दो मे वह इसे प्रकट करने से नही चूकते थे। लेकिन इधर कई दिनो से वह अस्वस्थ चल रहे थे। इन्जेक्शन और गोलिया जीवन का आधार बन गई थी। मैंने एक दिन पूछा, "मामा, आप दिन मे कितनी गोलिया खाते है ?"

उन्होने गम्भीरता से अगुलियो पर गिनना शुरू किया। फिर मुस्करा कर बोले, "अरे, आदमी को एक गोली काफी होती है। पर मैं हू कि दिन मे बारह गोलिया खा जाता हू और फिर भी जी रहा हू।"

आधी शताब्दी से भी ऊपर उन्होने मराठी-साहित्य की सेवा की। १९०८ मे उनका पहला नाटक 'कुज विहारी' खामगाव (विदर्भ) मे मच पर आया था। उस समय वह डाक-विभाग मे काम करते थे।

बीस वर्ष नौकरी करने के बाद १६१६ मे उन्होने इस्तीफा दे दिया। मैंने पूछा, "क्या आपने स्वाधीनता-सग्राम के कारण इस्तीफा दिया था ?"

बोले, "अरे, तब तो स्वाधीनता-सग्राम आरम्भ ही नही हुआ था। मेरे त्यागपत्र का कारण तो रगमच ही था।"

लेकिन उन्हे डाक-विभाग की याद भूली नही थी। कुछ वर्ष पूर्व जब डाक-तार की हडताल हुई तो उन्होने सरकार को लिखा था, "मैं डाक-तार विभाग मे काम कर चुका हू। डाक बाटने के लिए मेरी सेवाए हाजिर हैं।"

मामा का पूरा नाम भार्गवराम विठ्ठल वरेरकर था। लेकिन वह केवल मामा वरेरकर के नाम से प्रसिद्ध थे। हमारे यहा साधारणतया परिहास मे किसी को मामा कहा जाता है। परिहास-प्रिय को इस पर आपत्ति नही हो सकती थी। लेकिन उनके नाम का इतिहास कुछ और है। एक दिन मैंने पूछा, "आपको मामा क्यो कहते है ?"

बोले, "अरे, घर मे वहन के बच्चे थे। उनके मा-बाप का देहान्त हो चुका था, सो मेरे पास रहते थे और मुझे मामा कहते थे। बस घर मे सभी लोग मुझे मामा कहने लगे।"

मैंने पूछा, "और घर के बाहर ?"

बोले, "अरे, मैं स्वदेशी हितचिंतक नाटक कम्पनी मे काम करता था। वहा के लोग लेखक को मामा कहते थे। 'मामा' शब्द आदरसूचक है, सो बाहर भी मैं 'मामा' बन गया और इस तरह घर के प्यार और बाहर के आदर को मिलाकर मैं सब कही मामा कहलाने लगा।"

मामा ने जिस समय नौकरी से इस्तीफा दिया उस समय उनका सातवा नाटक मच पर आ चुका था। आज तो उनके नाटको की सख्या बहुत अधिक है। उनमे से बहुत से हिन्दी के रगमच पर भी आ चुके है और लोकप्रिय भी हुए है। मामा ने मराठी रगमच पर सर्व प्रथम सामाजिक समस्याओ को प्रस्तुत किया। उनके नाटको की या कहे साहित्य की विशेषता यह है कि उन्होने पुरानी रूढियो पर तीव्र प्रहार करके सामाजिक क्राति का उदघोष किया है। हास्य-व्यग का अद्भुत पुट उनकी सहज स्वाभाविकता है। मानव-मन के अधकूपो मे मामा की

विशेष गति नही थी। परन्तु कलाकार की सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टि उनके साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे दिखाई देती है। उनके साहित्य का देहाती वातावरण सचमुच देहाती वातावरण है। उनके सवाद सहज, सरल और जीवत है। भाषा और शैली भी सहज और ओजस्विनी है। महात्मा-गाधी के स्वर को सर्वप्रथम मामा के नाटको मे ही स्थान मिला है। उन्होने न केवल आर्थिक पूजीवाद का विरोध किया, बल्कि धार्मिक पूजीवाद का नारा भी लगाया। इसीलिए स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद के उनके 'और भगवान देखता रहा' जैसे नाटक बहुत लोकप्रिय हुए थे। नारी के अधिकारो के प्रति वह पूर्ण सजग थे। 'भूमि-कन्या-सीता' यह एक नाटक ही इसका प्रमाण है।

उनके नाटको की समस्याओ का क्षेत्र बहुत व्यापक है। वह मालिक और मजदूर, शराब-सट्टा और जुआ, अछूत और जेल के कैदी, नारी की स्वतन्त्रता और दहेज, अकाल और आजाद हिंद फौज, राजनीति, इतिहास और पुराण, इनसे सम्बन्धित कोई ऐसा प्रश्न नही, जो नाटककार की दृष्टि से ओझल रहा हो। कुछ आलोचको ने आक्षेप किया है कि उनमे नाटककार का अनिवार्य गुण तटस्थता प्राय नही है। इसीलिए उनकी कृतिया कलात्मक रूप लेते हुए भी महान रचना होते-होते रह जाती हैं। वास्तव मे मामा जिस युग के प्रतिनिधि थे उस युग मे कला से अधिक मुखर थी सामाजिक क्राति। हर युग की अपनी विशेषता होती है। और सर्वयुगीन साहित्यिक विरल ही होते है। मामा की यह विशेषता थी कि जीवन के चौथेपन मे भी उन्होने अपने साहित्य में क्राति और स्पष्ट-वादिता के स्वर को निस्तेज नही होने दिया था। शृगार-प्रिय मराठी 'तमाशा' मे मामा ने सर्वप्रथम राजनीति का प्रवेश कराया और उसे सस्कार दिया। अश्लील कहावतो को मात्र शब्द-परिवर्तन से शिष्ट रूप दिया। वे नई कहावते भाषा की शक्ति है।

दिल्ली के रगमच पर होनेवाले प्राय सभी नाटको में वह दर्शक-वीथि मे उपस्थित रहते थे। मृत्यु से पूर्व स्वस्थ अवस्था मे जो उन्होंने अन्तिम काम किया, वह एक बगला नाटक देखना ही था। वह नाटको की प्रशसा करते थे, परन्तु जो नाटक उन्हे पसन्द न आते, स्पष्ट शब्दो मे

उनके दोषो की चर्चा भी करते थे । इसी खरे स्वभाव के कारण उन्होने अपने समकालीन दिग्गजो से लोहा लिया । वह अच्छे लडवइये थे । पू० ल० देशपाण्डे, न० चि० केलकर और आचार्य अत्रे सभी से उन्होने युद्ध किया । केलकरजी के सवध मे वह एक कथा सुनाया करते थे । शायद केलकर महोदय को उनकी रचनाए पसन्द नही थी । परन्तु एक वार मामा ने किसी छद्म नाम से एक रचना की । सयोग से केलकर महो-दय ने उस रचना की मुक्तकठ से प्रशसा की । तव मामा तुरन्त उनके पास पहुच गए और बोले, "यह मेरी रचना हे ।"

आगे जो कुछ हुआ होगा, उसकी कल्पना करना ही पर्याप्त है । लेकिन यह सब होने पर भी परिहास-प्रिय मामा के मन मे कटुता अधिक देर तक नही ठहरती थी ।

नाटक उनकी प्रतिभा के पिरामिड है । लेकिन उन्होने उपन्यास भी कम नही लिखे । निबन्ध भी उतने ही शक्तिशाली है । अनुवाद-कार्य भी उन्होंने बहुत किया है। और भाषण ? मामा के दो प्रसिद्ध व्यसन थे । बीडी पीना और भाषण देना । सत्र विषयो मे पारगत परिहास-प्रिय मामा के भाषण कैसे प्रभावशाली होते होगे, यह कष्ट-कल्पना नही है ।

आकाशवाणी से उनका सम्बन्ध उसके जन्म से लेकर मृत्यु तक अक्षुण्ण वना रहा । उनकी मृत्यु के एक सप्ताह के भीतर ही उनका नाटक दिल्ली केन्द्र से नाटक-समारोह मे प्रसारित हुआ था । २ जुलाई, १९२७ को भारत मे ब्राडकास्टिग का आरम्भ हुआ तो मामा सबसे पहले ब्राडकास्टर थे । सबसे पहला प्रसारित नाटक भी उन्ही का था । तबसे लेकर अबतक न जाने उनके कितने नाटक आकाशवाणी के श्रोताओ का मनोरजन कर चुके है । वह केन्द्रीय सलाहकार समिति के सदस्य थे । कुछ वर्ष पूर्व आकाशवाणी के कर्णधारो ने उनको भी नाटक विभाग के सर्वोच्च पद के लिए आमन्त्रित किया था । मैंने पूछा, "मामा, आप गये क्यो नही ?"

मामा ने तुरन्त उत्तर दिया, "अरे, मैंने तो उनसे कह दिया कि मुझे अब पद क्यो देते हो । मेरे लिए तो लकडियो का प्रबन्ध कर दो ।"

इस वाक्य के पीछे साहित्यकार के आत्मसम्मान की भावना तो

मुखर थी ही, सरकार की नीति को परखनेवाली अभेद्य दृष्टि भी थी।'

मामा इतने परिहास-प्रिय थे, लेकिन एक दिन वह सन्यासी बनने के लिए आतुर हो उठे थे। उन्होने स्वामी विवेकानन्द से भेंट की थी और दीक्षा लेनी चाही थी। स्वामीजी की अन्तर्भेदी दृष्टि ने मामा की वेदना को पहचान लिया था और वह उन्हे इस मार्ग से विमुख करने मे सफल हो गए थे। मामा दीक्षित नही हो सके। लेकिन उनके कमरे मे मृत्यु के अन्तिम क्षण तक रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द और शारदा मा की मूर्तिया टगी हुई थी, मानो वह उन मूर्तियो से ही सतत प्रेरणा ग्रहण करते रहते थे। स्वामी विवेकानन्द को तबला बजाते उन्होने सुना था।

मामा पत्रकार भी रह चुके थे। स्वामी श्रद्धानन्द के साथ 'लिबरेटर' मे उन्होने काम किया था। मामा का सारा जीवन एक सतत खोज है। और साहित्य क्या है ? यही शाश्वत खोज। मामा जीवित साहित्य थे। कोकण प्रदेश मे उनका जन्म हुआ था। गोवा की परतन्त्रता उन्हे खलती थी। उस भूमि के प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करते-करते वह खो जाते थे। मृत्यु से पूर्व उनका अतिम कार्यक्रम गोवा जाने का ही था। रोग के प्रथम आक्रमण के समय, होश मे आने पर जब हम उनसे मिले तबतक वह वहा जाने के लिए कृत-सकल्प थे। लेकिन उनकी वह साध पूरी न हो सकी।

साहित्यकार का सम्मान उसकी रचनाओ के सम्मान मे निहित रहता है। मामा को वह सम्मान मिला। राज्य ने भी मुक्त मन से उनको समादृत किया। अतिम क्षणो तक वह राज्य सभा के सदस्य रहे। राष्ट्र-पति उन्हे 'पद्मभूषण' से सम्मानित कर चुके थे। अकादमी मे वह मराठी वाङमय के प्रतिनिधि थे। मराठी साहित्य सम्मेलन और नाट्य सम्मेलन के वह अध्यक्ष रह चुके थे। सगीत नाटक अकादमी उन्हे सर्व-श्रेष्ठ नाटककार का पुरस्कार देकर उपकृत हो चुकी थी। गत वर्ष उसने उन्हे अपना फैलो चुनकर फिर सम्मानित किया तो वह बोले, "अरे, तुमने सुना, हिज हेवीनेस (मैसूर के महाराजा स्थूलकाय है और अकादमी के प्रधान है) ने मुझे सगीत नाटक अकादमी का "ए फेलो' चुना है।"

फिर हँसे, "ए फैलो, व फैलो नही।"

मामा परिहास का कोई क्षण नही चूकते थे। उनकी परिभाषाए अद्भुत होती थी। नाई को वह हेडमास्टर कहते थे, अग्रेजी मे लिखा हुआ राजकमल उनके लिए 'रजकमल' वन जाता था। कुछ लोगो की मान्यता थी कि मामा वहुत भावुक है, अपनी आलोचना नही सह सकते। साहित्यकार प्राय भावुक होता है। वह उसका दोष नही, गुण भी है। मामा को भी मैंने उत्तेजित होते देखा है। लेकिन अभी उस दिन सस्ता साहित्य मण्डल के भाई यशपाल जैन ने उनसे कहा, "मामा, आपके उस उपन्यास का नाम ठीक नही लगता। क्या आप उसे वदल नही देंगे ?"

मामा ने तुरन्त उत्तर दिया, "अरे, वह सव तुम्ही कर लेना। मैं क्या वदलूगा!"

इसी प्रकार वह उनके एक नाटक मे सशोधन करवाना चाहते थे। मामा ने सहज भाव मे कहा, "अरे, यह विष्णु प्रभाकर जो है, इसे दिखा लेना।"

वस्तुत मामा वहुत सरल थे। किसी की सहायता करने के लिए वह सदा तत्पर रहते थे। वर्मा जाते समय हमे वीसा प्राप्त करने मे काफी कठिनाई हुई थी। चर्चा चलने पर मामा वोले, "अरे, मुझसे क्यो नही कहा था ? उनके दूतावास का डाक्टर मेरा भी डाक्टर है। शाम को मेरे साथ चलना।"

उसके वाद उन्होने क्या किया और कैसे किया, यह चर्चा असगत है। लेकिन अचानक दूतावास से एक दिन फोन आया, "आपका वीसा तैयार है, ले जाओ।"

रोगी होकर पहली वार जव वह वेलिंगडन अस्पताल मे रहे तो वहा की नर्सों के भी मामा वन गए। एक दिन देखता हू कि एक नर्स घर पर मामा के पास वैठी हुई शिकायत कर रही है कि उसे सिस्टर नही वनाया जा रहा, क्योकि उसका किसी से परिचय नही।

मेरी ओर देखकर मामा वोले, "अरे, यह तो वडा अन्याय है। मैं लिखता हू। किसको लिखना होगा ?"

नर्स ने अधिकारी का नाम वताया तो उन्होने तुरन्त उसके नाम

एक पत्र मुझसे लिखवाया। ऐसे न जाने कितने अवसर मेरे सामने आये हैं। प्रधानमत्री प० जवाहरलाल नेहरू को न जाने कितने पत्र उन्होंने लिखे।

एक दिन और जाकर देखता हू कि एक नार्वेजियन लडकी मुक्त भाव से बैठी बातें कर रही है। मेरी ओर देखकर मामा ने कहा, "अरे, मेरी इस नार्वेजियन बेटी से मिलो। बडी ऊची कलाकार है।'

पता लगा कि वह मामा के पास काफी दिन रह चुकी है और उनके परिवार की सदस्या-जैसी है। न जाने कितने व्यक्ति मामा के पास मडराते रहते थे और मामा थे कि जो कुछ कर सकते थे, हरेक के लिए करते थे।

यह सत्य है कि कुछ व्यक्तियो ने मामा से अनुचित लाभ भी उठाया। सरल-प्राण मामा उनकी बात भी अस्वीकार नही कर पाते थे। इस कारण कई बार उनसे अन्याय भी हुआ है। जिस समय मैं आकाशवाणी मे ड्रामा प्रोड्यूसर के पद पर काम कर रहा था तब लोकमान्य की जयन्ती के अवसर पर उनका लिखा हुआ रूपक प्रसारित होना था। वह बम्बई मे थे। दो भागो मे उन्होने एक बहुत लम्बा रूपक दिल्ली भेजा था। समय कम था और उसको सपादित करना काफी कठिन काम था। स्वाभाविक था कि कुछ गलतिया रह जाती, विशेषकर निर्देशन और अभिनय मे। चूकि यह सब मेरी देखरेख मे हुआ था, इसलिए मेरे विरोधियो ने इस अवसर का लाभ उठाया और मामा को मेरे विरुद्ध भडकाने मे सफल हो गए। मामा ने तत्कालीन मत्री महोदय को शिकायत का पत्र लिखा। उस पत्र का क्या हुआ और मेरी प्रतिक्रिया क्या थी, यह सब बताकर मैं गुप्त बातो को प्रकट करने का दोषी नही होना चाहता। लेकिन इस घटना के बावजूद मामा के स्नेह और मेरे आदर में रचमात्र भी अन्तर नही आया। इसके बाद भी पूरे आठ वर्ष तक हम एक परिवार के सदस्यो की तरह मिलते रहे। लेकिन एक बार भी इस घटना की चर्चा हम दोनो ने नही की।

कभी-कभी मामा हमारे एक प्रिय व्यक्ति की कटु आलोचना करने लगते थे। मैं स्वीकार करूगा कि मुझे वह अच्छा नही लगता था। लेकिन मैं

मामा को पहचानता था और जानता था कि यह मामा का स्वर नहीं है, उनकी जिह्वा पर कोई और ही व्यक्ति आ बैठा है। इसलिए कडवे धुए के वे वादल सदा बिना वरसे ही निकल जाते थे।

मामा के पास जाकर कोई खाली हाथ नही लौटता था। खूब हँसता था, खूब आतिथ्य पाता था। जैसे ही कोई व्यक्ति वहा पहुचता तो वह आवाज लगाते, "अरे नीला !"

और कुछ ही क्षण बाद उनकी सचिव नीला चाय और चिउडा लेकर उपस्थित हो जाती। नीला न केवल मामा की देखभाल करती थी, बल्कि आगन्तुक अभ्यागतो का सत्कार भी खूब करती थी। मामा यह जानते थे कि कौन व्यक्ति क्या पसन्द करता है। मुझे देखते ही वह पुकार उठते थे "अरे, एक बच्चा भी आया है। उसके लिए दूध लाना !"

तब इस आयु मे मामा के मुख पर वात्सल्य जैसे बिखर-बिखर पडता था। बोलते, "बूढे और बालक दोनो की वृत्ति एक जैसी हो जाती है। इस बुढापे मे मैं भी बालक हो गया हू।"

सदा दारिद्रय मे सघर्ष करनेवाले मामा बीडी पीते थे और हम देख-देख कर चकित होते, पर यह भी उनके चरित्र की विशेषता थी। लेकिन एक दिन उसे भी छोड दिया। फिर छुआ तक नही। सीढी के सबसे निचले डण्डे से केवल अपनी अदम्य कार्यक्षमता और सतत साधना के बल पर यश के शिखर पर पहुच गए थे। सच्चे साहित्यिक की भाति उन्होने अपने अन्त करण के विश्वविद्यालय मे शिक्षा पाई थी। जन्म से वह महाराष्ट्रीय थे। उनके रूप-रग, कार्य-कलाप, सभी पर सन्तो और वीरो के उस प्रदेश का प्रभाव परिलक्षित होता था। श्वेत वर्ण, प्रशस्त ललाट, दृढ चिबुक, पैनी दृष्टि, वात्सल्यमण्डित मुख, खादी की पोशाक और हाथ मे लकडी, ये सब उनकी दृढता और स्नेह के प्रतीक थे। वह एकान्त-प्रिय नही थे, मित्र-जाति के थे। निसग नही थे, दूसरो के सुख-दुख मे रस लेते थे। आक्रमण भी करते थे और क्षमा भी करते थे। वह घर के उस बुजुर्ग की तरह थे, जो भरे-पूरे परिवार मे बैठकर शासन भी करता है और स्नेह की वर्षा भी। वह जैसे सदा स्मरण कराते रहते थे,

'साधना की शक्ति असीम है और कि जो अपने पर हँस सकता है, वही जीवन का अर्थ समझता है।' इसी प्रवृत्ति के कारण वह अपने जीवन की वेदना को भूल सके थे। उनके जीवन मे सुख नही था। उसके अभाव को वह जैसे हास-परिहास से पूरा करते थे। जिसके अन्तर मे पीडा का गहरा सागर लहराता है वह ऊपर से मुक्तहास की वर्षा भी कर सकता है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।

आज वह नही है, यह विश्वास ही नही आता। प्रति क्षण सोचता हू कि टेलीफोन की घण्टी बज उठेगी और मेरी भतीजी हँसती हुई आकर कहेगी, "मामा है, कहते है मैं तुम्हारा मामा हू, तुम्हारे ताऊ का भी मामा हू।"

हँसते-हँसते मैं मामा का स्वर सुनता हू, "अरे, कई दिन हो गए, तुम आये नही ? कब आ रहे हो ?"

पर अब मामा जहा है, वहा के टेलीफोन की घण्टी कब बजेगी कौन जाने, सो मन-ही-मन आखें मीच कर उनकी हँसती हुई प्रेम-मूर्ति को देख लेता हू और प्रणाम कर लेता हू।

: ८ :

रंगून का वह नाजुक डाक्टर

जीव-हत्या के डर से जैन साधु मुह पर पट्टी बाधते है। डा० ओम्प्रकाश जैनी नही है, पर वह इतने धीमे स्वर मे बोलते है कि उनकी बात समझने के लिए बहुत कुछ अपनी अनुमान-शक्ति पर निर्भर करना पडता है। वह इस तरह से आपकी ओर देखते हैं कि अनायास ही आपको प्राचीन-काल की सजीली नववधू की याद आ जाती है। सचमुच वह इतने अहिंसक है कि अपनी वाणी या दृष्टि से किसी को कष्ट पहुचाने मात्र की कल्पना ही उन्हे पीडा देती है। वह जैसे प्रति क्षण मानो यही कहते हैं—धीरे से बोलो, जिससे क्रोध से बच

सको, और दृष्टि नीची रखो, जिससे कोई घायल न हो जाय।

लेकिन वह नही जानते कि उनकी यही अदाए उनके सम्पर्क मे आनेवालो को सदा के लिए घायल कर देती है, और वह उन्हे बस प्यार ही कर सकता है। ४०२ मुगल स्ट्रीट, रगून के उनके क्लीनिक[1] पर लगी भीड को देखकर इसका सहज ही अनुमान हो आता है। बर्मा मे रहनेवाले सभी वर्गों और जातियो के भारतीय तो उस भीड मे होते ही हैं, बर्मी भी बहुत बडी सख्या मे दिखाई देते हैं। उस समय उनसे बाते करना असम्भव है। नही जानता, वह अपने धन्धे मे कितने पारगत है, पर मानव व्यापार मे उन्हे कोई पराजित नही कर सकता। आधा रोग तो वह अपनी मृदु मुस्कान, लजीली दृष्टि और मधुर वाणी से हर लेते है।

और वह केवल एक ही फार्मेसी मे बैठते हैं, सो बात भी नही है। बहुत सवेरे वह आर्यसमाज की डिस्पेंसरी मे पहुच जाते हैं और दो घटे तक वैसी ही भीड, वही मुसकान, वही हँसी की फुलझडिया वहा दिखाई देती है। उनकी हँसी कभी आखो और ओठो से नीचे नही उतरती, लेकिन दूसरे को लोट-पोट कर देती है। ऐसे कोमल-हृदय डाक्टर ओम्‌प्रकाश चलते बहुत तेज है, क्योकि समय की सीमा है, लेकिन मरीजो की सख्या पर कोई बन्धन नही है। घर आते-जाते रोगी आगे-पीछे रहते है। फिर कुछ रोगियो के घर जाना भी अनिवार्य है। कुछ का घर आना भी अनिवार्य है। परिणाम यह होता है कि जब वह मित्रो को पत्र लिखते है तो उनके अक्षर उनकी वाणी की तरह अस्पष्ट रह जाते है, लेकिन उस अटपटी भाषा और लिपि का अर्थ तो कोई प्रेमी ही समझ सकता है। इसीलिए जो उन्हे नही जानते, उनके कभी-कभी गलतफहमी के शिकार हो जाने का डर रहता है।

उनसे मेरी पहली भेंट दिल्ली मे ही हुई थी। नाटक की तलाश करते-करते वह मेरे पास पहुच गए थे। किसी के सूचना देने पर

---

१ अब वह नये शासन मे सरकारी नौकरी में ले लिये गए है और अन्यत्र भेज दिये गए है।

नीचे जाकर देखा कि धरती मे दृष्टि गडाये एक गौरवर्ण, सुगठित वदन के वन्धु वहा खडे है। उस दिन की उनकी दृष्टि मे न जाने क्या था कि वह आज भी मेरा पीछा करती रहती है। उनके उस प्रवास में दो-तीन बार मिलना हुआ और पाया कि जैसे यह व्यक्ति सचमुच ही मित्र-जाति का है।

डाक्टरी की बाते करते-करते मैं नाटक पर आ गया और यह सच है कि डाक्टर ओमप्रकाश शरीर के रोगो के ही डाक्टर नही है, मन के रोगो को दूर करने की विद्या भी जानते है। रगून के भारतीय शरीर के साथ-साथ अपना मन भी इन्हे सौप कर सन्तुष्ट है और इसी कारण एक सुन्दर हिन्दी-नाटक उन्हे प्रतिवर्ष देखने को मिलता है। श्री सत्यनारायण गोयनका आदि कई उत्साही मित्रो के साथ वह केवल रग नाटक ही नही प्रस्तुत करते, अवसर मिलने पर बर्मा रेडियो पर भी हिन्दी नाटक प्रसारित करते है। मैं साक्षी हू कि ध्वनि और रग दोनो नाटको को प्रस्तुत करने का स्तर किसी के लिए भी ईर्ष्या का कारण हो सकता है। गोयनका-जी व्यापारी होते हुए भी जन्मजात अभिनेता हैं और घण्टो जनता को स्तब्ध रख सकते है।

डाक्टर ओमप्रकाश एक मिशनरी की उत्कट भावना से ओत-प्रोत है। इसीलिए बर्मा मे हिन्दी-प्रचार के वह एक स्तम्भ हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान मे वह राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के केन्द्र चलाते है और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओ का प्रबन्ध करते हैं। दूसरे व्यक्ति पढने मे रुचि ले, इसलिए वह स्वय भी 'साहित्य-रत्न' पास कर चुके हैं। और उनकी पत्नी भी कर चुकी है। पूरा परिवार दीवाना है। पत्नी रगून मे पढाती है, बहन माडले मे पढाती है, भाई सुन्दर अभिनेता है और बहन कुशल अभिनेत्री

डाक्टर ओमप्रकाश रगून आर्यसमाज के भी एक स्तम्भ है। कालेज-स्कूल का उत्तरदायित्व भी इन्के कन्धो पर है। सच तो यह है कि वह रगून मे भारतीय जीवन के हृदय है। वैसे-ही जैसे हृदय रक्त का सचा-लन करता है, डाक्टर ओमप्रकाश भी बर्मा के जनजीवन मे प्राण

फूकते है ।

और हृदय क्या है ?

हृदय मनुष्य है । डाक्टर ओमप्रकाश भी मनुष्य है । जो जानते है कि मौन सर्वोत्तम भाषण है, इसीलिए कम-से-कम बोलते है । जो जानते है कि दृष्टि ऊपर करने मे अभिमान है और अभिमान हृदय मिलन के मार्ग की बाधा है, इसीलिए वह कम-से-कम देखते है । और इसीलिए आदमी को और आदमी की आवश्यकता को पहचानते है ।

रगून जब पहुचे तो जलोत्सव का रगीला त्योहार आरभ हो चुका था । हम उसका पूरा आनन्द लेना चाहते थे । तीन दिन तक डाक्टर साहब और गोयनकाजी आदि मित्र हमारे साथ ही घूमते रहे । पता लगा कि न जाने कितने वर्षो मे डाक्टर साहब ने उस उत्सव मे भाग लिया है । निरन्तर जल-वर्षा के कारण हमारे जूतो के खराब हो जाने का डर था । इसलिए दूसरे दिन सवेरे अभियान पर निकलने से पूर्व क्या देखता हू कि डाक्टर साहब तीन जोडी चप्पलें बगल मे दबाये चले आ रहे है । पास आकर वह धीरे से हँसे और बोले

"आपके लिए, क्षमा कीजिए बाजार बन्द है, बढिया न ला सका ।"

यशपालजी बोले, "अरे, आप ये क्यो ले आए ?"

धीरे से उत्तर दिया, "होली जो है ।"

इस अनेक अर्थगर्भित उत्तर पर जो कहकहा लगा, उसमे हमारी कृतज्ञता के आसू भी बह गए ।

हम लोग भारत से केवल ७५-७५ रुपये ले कर ही चले थे । वर्मा से जब थाईलैण्ड जाने लगे तो पता लगा कि उनके अतिरिक्त १००-१०० च्याट (वर्मी रुपया) भी ले जा सकते है । जाने से पहली रात को मित्र लोग बहुत देरतक बैठ रहे । डाक्टर साहब उनके जाने के बाद भी बैठे रहे और जब जाने लगे तो सौ-सौ रुपये के दो नोट मेरी ओर बढाये । फुसफुसाते हुए कहा, "रख लीजिए । काम आ सकते हैं ।"

हम दोनो चकित-विस्मित देखते रह गए, "यह क्या डाक्टर साहब ?"

"ठीक है । परदेश जा रहे हैं ।"

और डाक्टर साहब नमस्कार करके नीचे उतरते चले गए। क्षण भर स्तब्ध रहकर यशपालजी ने कहा, "कैसा है यह आदमी ! न बोलता है, न बोलने का अवसर देता है ।"

मैंने उत्तर दिया, "यह आदमी बोलने का नाटक नही करता। सचमुच ही बोलता है ।"

ये दो छुटपुट घटनाए नही हैं, लेकिन सोचता हूं, किस-किस का वर्णन करू और फिर वर्णन करके उस महान को छोटा भी क्यो करू ! माडले जाना है, डाक्टर साहब और गोयनकाजी गाडी पर सब प्रबन्ध किये मौजूद है। उनका आग्रह है कि जियावडी जाना ही चाहिए। और वह स्वय टिकट लिये राह देख रहे हैं। गाडी ने सीटी दे दी और वह मुह उठाये बाहर की ओर देख रहे हैं कि हम पहुचे। यशपालजी अस्वस्थ हैं और डाक्टर साहब ९५ पैडिया चढकर दिन मे चार बार देखने आते हैं।

और यशपालजी कहे जाते है, "यह आदमी है !"

और वास्तविकता यह है कि वह स्वय भी अस्वस्थ थे। डिस्पेंसरी से थके प्राण लेकर १-२ बजे लौटते और ऊपर आते। कभी-कभी ड्राइवर को भेजकर हमे नीचे बुला लेते तो बाद मे बार-बार कहते 'ड्राइवर' को भेजने के लिए माफी चाहता हू। हम लोग दिन मे एक बार भोजन करते हैं, यह जानकर उन्होने तुरन्त कहा, "मुटापा कम करना चाहता हू, ऊपर नही चढा जाता। बस आज से मै भी एक ही वक्त खाया करूगा।" और सचमुच उन्होने यही किया। बाद मे एक पत्र मे लिखा, "ऐसा करने से बडा लाभ है।"

शरतबाबू के जीवन के सम्बन्ध मे खोज करने बर्मा गया था। जितने आदमियो से मिल सकू, मिलना चाहता था। मेरे वहा पहुचने से पूर्व ही वह उसका बहुत-कुछ प्रबन्ध कर चुके थे। पहले वह स्वय उन से मिलते, समय तय करते, अक्सर साथ ले जाते। यह सब उनकी व्यस्तता को और भी बढा देता। पर क्या मजाल कि कभी उनकी मुस्कान मे कमी पड जाय तो उन्हे डाक्टर ओमप्रकाश कैसे कहा जाय ?

डाक्टर विश्वास को ढूढ लेना और उनसे मेरी भेट करा देना उन्ही का काम था। 'सस्ता साहित्य मण्डल' ने वर्मी जीवन पर मेघाणीजी के एक उपन्यास का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है। डाक्टर साहब ने उसे पढा और उच्चारण की दृष्टि से सभी शब्दो को ठीक कर दिया। अपने आराम के कुछ क्षणो का उपयोग वह प्राय इसी तरह करते है।

वहुत वर्ष पहले एक दिन उनके पिता रोजी की तलाश मे पजाव से रगून गये थे। डाक्टर साहव वही पैदा हुए और वही है। जनता उन्हे प्यार करती है। बर्मा की सरकार उनका आदर करती है। वह उन कुछ भारतीयो मे से हैं जो स्थिति का सही-सही मूल्याकन करना जानते है। हृदय और वुद्धि की ऐसी समान परिपक्वता कम देखने को मिलती है। किसी के सम्वन्ध मे वह शीघ्र राय नही वनाते और बनाते है तो वह असन्तुलित नही होती। वर्मी नारियो की चर्चा करते हुए मैं-ने सन्यासी तक को असन्तुलित होते देखा है। डाक्टर ओमप्रकाश से मेरी इस सम्वन्ध मे काफी चर्चा हुई। उन्होने कहा, "वर्मी नारी को पति छोडने का अधिकार है, लेकिन पति छोडना आम वात नही है। वे प्रेम करना जानती है और प्रेम से ही रहती हैं। स्वय हिन्दुओ ने उनके साथ बुरा वर्ताव किया है।"

उत्थान और पतन के अनेक दृश्य उनकी आखो मे चित्रित हैं। जापानी आक्रमण और उसके अत्याचार की कहानी उनकी जवान पर है। पर हर अनुभव जैसे उनकी मानवता को और भी प्राणवान वनाता है। वह अकिचन व्रत के व्रती हैं। वह दावा नही करते, प्रेम के पथ पर दावा चलता भी नही। वह शोर नही मचाते, क्योकि शोर मचाने से प्रेम अपना मूल्य खो देता है। 'न कुछ' होने ही मे उनकी महानता का रहस्य है। वह जहा वैठते है सुगन्धित फलो का वगीचा वहा खिल उठता है। एक स्वागत-सभा मे मैंने कहा, "आप लोगो के स्नेह की तो अति हो गई। डरता हू कि कही अपच न हो जाय।"

सम्मेलन के नये अध्यक्ष जोशीजी वोल उठे, "कोई डर नही, डाक्टर साहव ठीक कर देंगे।"

गोयनकाजी ने कहा, "डाक्टर देखना, कही स्नेह समाप्त न हो जाय।"

डाक्टर साहब धीरे से हँसते हुए बोले, 'ना, समाप्त नही करूगा। पचाने की दवा दूगा।"

और सारी सभा कहकहो से गूज उठी।

सचमुच डाक्टर ओम्प्रकाश जिस स्नेह के मूर्तिमान प्रतीक है, वह न उबलता-उफनता है, न रक्त मासहीन है, वह तो मौन होकर ही सहस्र जिह्वाओ से बोलता है और अपनी सरलता-निश्छलता मे से ही शक्ति ग्रहण करता है। उन जैसे, सरल और पर-दु खकातर सहृदय और कलाप्रेमी व्यक्ति विरल होते है। वह विधाता की उन विभूतियो मे से है, जो दूसरे के सुख-दु ख को वाणी के माध्यम से नही, बल्कि मन के भीतर से समझते हैं।

: ६ :

एक नेत्रहीन की दृष्टि : एक चित्र

खेतिया नेत्रहीन था।

वह आज जीवित है या नही, यह बात कोई अर्थ नही रखती, क्योकि उसका चित्र मेरे मन पर इस प्रकार अकित हो गया है कि मिटाये नही मिट सकता। मैंने उसे पहली बार सन २४ मे देखा था और अन्तिम बार १९६३ मे। काल की दृष्टि से ही मैं पहली और अन्तिम बार कहता हू, नही तो मेरे लिए १९२४ और १९६३ मे भेद करना मुश्किल है। मैंने उसे जिस रूप मे १९२४ मे पाया था उसी रूप मे १९६३ मे पाया। बेशक, अब वह बूढा हो चला था, परन्तु मैं उसका मूल्य काल के सन्दर्भ मे नही आकना चाहता।

जब शिक्षा प्राप्त करने के लिए मैं अपने मामा के पास हिसार (पजाब) गया तो वह उनके घर मे काम करता था। अन्तिम बार भी

मैंने उसे उन्ही के घर मे उसी तरह काम करते देखा। यू वह मामा के सरकारी दफ्तर मे पखा-कुली था। जबतक वहा बिजली नही पहुची थी। कपडे के झालरदार लम्बे-लम्बे पखे छत मे लटकाये जाते थे, और उनमे बधी हुई लम्बी डोरिया दीवार के सूराख मे होकर बन्द दरवाजो के बाहर लटकती रहती थी। दरवाजे इसलिए बन्द कर दिये जाते थे कि गर्म हवा अन्दर न आ सके। पखा-कुली उसी गर्म हवा मे, हाथ मे, या थक जाने पर पैर से, निरन्तर डोरी को खीचते रहते थे।

हिसार देश के उन भागो मे से है, जहा तापमान सबसे उग्र रहता है। मध्याह्न का सूर्य सचमुच आग बरसाता है और उस आग का स्पर्श पाकर वायु प्राणो को झुलसानेवाली लू मे रूपान्तरित हो जाती है। इसी लू मे स्वेद-स्नात वे पखा कुली आभिजात्य वर्ग के लोगो का पसीना सुखाते थे। खेतिया नेत्रहीन था, फिर भी भरी दोपहरी मे पखा खीचते-खीचते उसके नेत्र मुद ही जाते थे। तब पखे की गति रुक जाती, कमरे की दबी हुई तप्त वायु उबल उठती और आभिजात्य वर्ग के लोग, शक्ति के अनुरूप भारी-सी गाली देकर, अन्दर से पखे की डोरी को ऐसे खीचते कि बाहर पखा कुलियो के पैर या हाथ जोर से झटका खाते, पखे फिर तेज-तेज चलने लगते। अन्दर पसीना सूखता, बाहर पसीना तरल होता। पसीना कही नही जाता। एक स्थान पर सूखता है, दूसरे पर तरल होता है। एक को कष्ट पहुचाकर ही दूसरा ऐश्वर्य भोगता है।

वह बडे बाबू के घर पर भी काम करता था। पानी भरता था, बर्तन माजता था। कभी-कभी बुहारी तक लगा देता था। खेतिया, जो नेत्रहीन था, बडे-बडे मटके लेकर दूर कुए पर जाता। उन कुओ मे पानी बहुत गहरा था, पचास गज, साठ गज, यहातक कि सौ-सौ गज गहरा और हर कुए का पानी मीठा भी नही होता था। मीठे कुए बहुत कम थे, इसलिए दूर-दूर पर थे, वह हर रोज सुबह-शाम, आधी हो या पानी, बिजली चमकती हो या तूफान गरजता हो, हर अवस्था मे खारी ही नही, मीठा पानी भी भरता था। कधे पर बडा-सा मटका टिकाये, एक हाथ मे उसे सभाले, दूसरा हाथ एक लडके के कन्धे पर रखे वह तेज-तेज झूमता हुआ चलता था। लडका डगमगा जाता, लेकिन खेतिया ने

कभी ठोकर नही खाई। लडके की दृष्टि भटकती थी, खेतिया की दृष्टि अन्तर्मुखी थी, मात्र लक्ष्यभेदी। वह ठीक स्थान से घडे उठाता था, ठीक स्थान पर लाकर वापस रख देता था। आखोवाले अक्सर घडे फोड देते, लेकिन उसने शायद ही कभी कोई घडा फोडा हो।

बहुत सवेरे अधेरेमुह वह आता था। एक फटी हुई धोती, वैसी ही एक कमीज, सिर पर लिपटा हुआ एक छोटा-सा साफा, एक हाथ मे लकडी और दूसरा हाथ सदा किसी लडके के कन्धे पर रखे, मुह ऊपर को उठाये मानो वह सदा ईश्वर की ओर देखता रहता हो, तेज-तेज चलता हुआ द्वार पर आकर दस्तक देता और मैं आखें मलता हुआ उठ बैठता। द्वार खोलता, उसे देखता और खीज उठता। लेकिन वह 'नमस्ते' कहकर सीधा घडे उठाने चला जाता। मैं सोचता रह जाता, इसके आखे नही है, फिर भी यह कैसे देखता है। वह कभी दीवार टटोलता, कभी हवा मे हाथ फैलाकर मार्ग सूघता। मैं उसे देखता रहता, देखता रहता उसकी चाल को और जब वह पखा खीचता तो उसकी निरन्तर घूमती हुई गर्दन को। उसके चेहरे पर की एक अजीब-सी चमक को। उसके शरीर मे जैसे कही-न-कही स्प्रिंग था, जो हमेशा उसे चचल किये रहता। जब मैं बहुत छोटा था, मैंने एक दिन उनसे पूछा, "खेतिया, तुम कैसे देखते हो ?"

सुनकर वह हँस आया। मुख पर करुणा का भाव, जो प्राय सिमटा रहता था, पूरे विस्तार मे फैल गया। बोला, "देख सकता तो फिर यही क्यो आता ? घर में जमीन है।"

"लेकिन तुम अधेरे मे चले आते हो, कुए से पानी खीचते हो, इतने बडे-बडे मटके कन्धे पर रखकर भीड मे से निकल जाते हो, ये सब बिना देखे कैसे हो जाता है !"

उसके मुख पर की करुणा और गहरी हो आई। उसने आखो को और भी आकाश की गहराइयो की ओर उठाया। कहा, "मैं नही देखता, भगवान देखता है। वही सब-कुछ करता है। वही पानी खीचता है, वही मटके उठाता है और वही मेरे आगे-आगे चलता है।"

"तुम भगवान को देख लेते हो ?"

"भगवान को देखने के लिए आखें नही, मन चाहिए ।"

मै अबूझ-अवाक्, सोच मे पड गया कि भगवान जब उस पर इतने कृपालु है तो उन्होने उसे आखें क्यो नही दी ? खेतिया ने जैसे मेरे मन की बात भाप ली हो । कहा, "भगवान की माया को हम जान ले तो फिर भगवान रहे कहा ?"

और वह बान बटने मे दत्तचित्त हो गया । वह बान भी बटता था, खाट भी बुन लेता था । ये सब काम वह करता रहता और मैं उसे देख-देखकर हैरान होता रहता । मैं जानता हू कि आज चालीस वर्ष बाद भी मेरी उस हैरानगी मे कोई अन्तर नही पड सका है ।

उसे क्रोध भी आता था । उसके साथ आनेवाले लडके यदि काम ठीक नही करते तो वह उनको डाटता, मारने को पीछे दौडता । उसका आख-मिचौनी का वह खेल देखकर मैं खूब हँसता । वह उनका ठेकेदार था । उनके चाल-चलन का दायित्व उस पर था, इसलिए जब-जब वे डगमगाते तो वह जोर-जोर से चिल्ला-चिल्ला कर उन्हे दण्ड देने का दायित्व ओढ लेता । स्वय वह अत्यन्त ईमानदार और कर्मठ था ।

और इसी तरह दिन बीतते गए । उसकी आयु बढती गई, लेकिन मैंने जैसे मन १६२४ मे उसे पहली बार देखा था, उन बीतते दिनो मे उसे वैसा ही देखा । उसमे कही परिवर्तन नही आया था ।

लेकिन फिर भी परिवर्तन तो आता ही है । एक दिन अतीत की आवाजे मात्र प्रतिध्वनिया बनकर रह जाती है । एक दिन उस शहर मे भी बिजली आ गई और निमिष मात्र मे पखा-कुलियो का व्यापार चौपट हो गया । आभिजात्य वर्ग के लोग प्रसन्न थे कि अब उन्हे बार-बार झुझलाना नही पडेगा । पसीना भी नही आयगा, पखा-कुलियो की टाग मे बधी रस्सी भी नही खीचनी होगी । लेकिन पखा-कुलियो के चेहरे उतर गए कि अब उन्हे नये रोजगार की तलाश मे भटकना पडेगा । अक्सर वे छोटे-छोटे लडके होते थे, १४-१५ वर्ष से लेकर १७-१८ वर्ष तक के । उन्हे दूसरा काम ढूढने मे कोई विशेष कठिनाई नही हुई । शीत ऋतु मे यू ही वे कुछ और काम करते ही थे । खेतिया वर्ष मे छ महीने पखा खीचता था । शेष महीनो मे देवी के अपने छोटे-से मन्दिर

मे पूजा करवाता था। वह देवी का पुजारी था और भगत के रूप मे प्रसिद्ध था। लेकिन यह पूजा छडी के दिनों के अतिरिक्त कोई महत्व नही रखती थी और छडी का उत्सव वर्ष मे केवल दो बार ही होता था।

वडे वावू ने सभी लोगो को और-और कामो पर लगा दिया, लेकिन वह था कि न तो चपरासी का काम कर सकता, न चौकीदारी का। छोटे बच्चे को भी विश्वास के साथ उसके हाथो मे नही सौपा जा सकता था। वडे बाबू ने उससे कहा, "मै तुम्हारे लिए और तो क्या कर सकता हू, सदा की तरह घर पर काम करते रहो, जो उचित होगा वह तुम्हे मिलेगा।"

खेतिया घर पर काम करने का शायद एक पैसा भी नही लेता था। उन दिनो कोई भी नही लेता था। चपरासी, कुली, मजदूर, सब अपने-अपने अफसरो और बाबुओ के घर काम करते थे। यदि उन्हे कुछ मिलता भी था तो वह नाममात्र को ही था। अव वडे वावू उसे पूरी पगार देने लगे।

फिर उन्हे भी पेंशन मिल गई। खेतिया तब भी उनके घर आता रहा। २१-२२ वर्ष तक उन्होने पेशन भोगी। इतने दिनो तक वह भी उनका पानी भरता रहा, खाट बुनता रहा। १९६३ की गर्मियो मे अन्तिम वार मैने उसे उन्ही के घर देखा था। तब वडे बाबू नही रहे थे और वह बुरी तरह रो रहा था। उसकी अधेरी दुनिया का वह पचास वर्ष का साथी (साया कहने को मन नही करता) जुदा हो गया था। लगभग आधी सदी तक वे चुपचाप अनजाने सग-सग सरकते रहे थे।

मै वहुत पहले पजाब से चला आया था और छ-सात वर्ष मे कभी-कदास चला जाता था। हर बार खेतिया वैसे ही उल्लास से मुझसे मिलता। मेरी आवाज सुनकर उसके चेहरे पर एक ताजगी-सी दौड आती। मैं देखता, वही कपडे, वही चाल, आकाश की गहराइयो मे झाकती हुई वे ही आखे, वही झूमती हुई गर्दन। मुह पर फैली हुई वही निस्सीम करुणा, कही भी जरा भी तो अन्तर नही।

दीवार टटोलता या हवा मे हाथ फैलाकर रास्ता सूघता और गदगद होकर पूछता, "अच्छे हो बाबू बिसनु, क्या करते हो ?"

मैं कहता, "अच्छा हू । किताबे लिखता हू ।"

वह अचरज से बोलता, "अच्छा !"

वह 'अच्छा' शब्द मानो मुझे उलाहना देता हो, "हमे भी तो पढवाओ भाई। क्या लिखते हो ?" लेकिन मैं जैसे इस प्रश्न को टाल जाता और पूछ लेता, "तुम कैसे हो ? काम ठीक चल रहा है न ?"

वह उत्तर देता, "सब भगवान की कृपा है। और मुझे करने को है क्या, वही जो हमेशा करता हू । वही पानी भरना । वही मन्दिर । पर अब जमाना कहा-से-कहा पहुच गया है। लोग कहते हैं, देश आजाद हो गया है, पर बाबू बिसनु, मैं तो वही हू । हा, तुम्हे देखकर अलबत्ता तबीयत खुश हो जाती है।"

व्यतीत की ध्वनिया उभरते-उभरते पृष्ठभूमि मे खो जाती, क्योकि मै अब सन १९२४ वाला बालक नही रह गया था। देखने का अर्थ समझने लगा था। केवल आखो को ही यह अधिकार नहीं मिला है । स्पर्श की भी दृष्टि होती है, वाणी की भी दृष्टि होती है, आकाश की भी दृष्टि होती है, नही तो तुलसीदासजी 'गिरा अनयन नयन बिनु वाणी' कैसे लिखते । खेतिया के पास वही दृष्टि थी। हर नेत्रहीन के पास वही दृष्टि होती है। सचमुच देखने का काम आखे नही करती । देखता मस्तिष्क है, जो मात्र कुछ समाजगत परम्पराओ और कुछ व्यक्तिगत भावनाओ का मूर्त रूप है। रेडियो पर जब हम नाटक या सगीत सुनते हैं तो अपने इन भौतिक चक्षुओ से किसी को देख पाते हैं ? लेकिन फिर भी नाटक का हर पात्र, हर गायक-गायिका सभी मस्तिष्क पर मूर्त हो जाते है। हम उनका चित्र देखते हैं। खेतिया के पास भी वही पारदर्शी दृष्टि थी।

बचपन मे उसे देखकर जो करुणा मेरे मन मे जागती थी, उसके स्थान पर अब धीरे-धीरे आदर और श्रद्धा का झीना-झीना भाव जागता आ रहा था। एक-दो बार सहसा मन मे उठा कि मैं उसे कुछ दूं, लेकिन आदर और श्रद्धा के इसी झीने-झीने आवरण ने हर बार

मेरा हाथ पकड लिया। मुझे लगने लगा जैसे मैं उसका अपमान करने जा रहा हू। आखें ही तो मनुष्य नही हैं, मनुष्य तो देहातीत है। न हो उसके पास नेत्र, पर दृष्टि तो है। उसी दृष्टि ने उसे अबतक अविजित रखा है। वह उतना ही सूक्ष्म है जितना कि मैं हू। मेरी करुणा क्या उसके इसी विजय-गर्व को खण्डित नही कर देगी ?

और मै उसे कभी कुछ नही दे पाया, लेकिन इसके लिए मुझे कभी दुख भी नही हुआ, क्योकि मैं जानता हू कि वह आज भी उसी तरह झूम-झूम कर चल सकता है, उसी तरह आकाश की गहराइयो में झाक सकता है, बडे-बडे मटके उठाकर भीड मे से निकल सकता है। खाट तक बुन सकता है। वह श्रमिक है और श्रम का अपमान करने से बडा और कोई अपराध नही हो सकता।

: १० :

ऐसे थे प्रथम राष्ट्रपति

२१ जून, १९५० की बात है। हम राष्ट्रपति भवन पहुचे, उस समय साढे पाच बजने मे छ मिनट की देर थी। स्वागत-मत्री ने मुस्कराकर कहा, "आप श्री विष्णु प्रभाकर और श्री यशपाल जैन !"

मैंने उत्तर दिया "जी हा।"

"पधारिये !" उन मत्री महोदय ने स्वागत-गृह का द्वार खोलते हुए कहा, "मैं अभी सूचना देता हू।"

समझ रहे थे, नियम के अनुसार छ मिनट राह देखनी होगी, परन्तु अभी उस कमरे के अन्दर प्रवेश भी न कर पाये थे कि मत्री महोदय ने आकर कहा, "चलिये !"

तब हम विशाल बरामदोवाले उस भवन के दोहरे द्वार से युक्त राष्ट्रपति के कमरे मे दाखिल हुए। प्रथम प्रभाव मे उस कमरे की विशालता ने हमे कुछ अभिभूत किया, परन्तु दूसरे ही क्षण उसकी

कृपणता हमपर प्रकट हो गई। वह कृपणता स्वाभाविक जीवन की थी। कमरा विशाल था। उसकी सजावट मे कभी ऐश्वर्य का हाथ भी रहा होगा, परन्तु अब तो एक बडे ग्लोब के अतिरिक्त और कोई विशेष बात वहा दिखाई नही दी। राष्ट्रपतिजी एक बडी मेज के सामने, रैको से घिरी कुर्सी पर बैठे किसी फाइल का निरीक्षण कर रहे थे। नमस्कार के ससय दृष्टि-से-दृष्टि मिली। पाया, नेत्रो के चारो ओर वही चिर-परिचित चक्र बना है और उस चक्र से झाक रही है वही विनम्रता, सरलता और सचाई।

क्षण-भर मे अनेक चित्र उठे और गिरे। सहसा याद आया कि अभी गत वर्ष ही तो वर्धा शान्ति-सम्मेलन मे भेट हुई थी। प्रथम राष्ट्रपति कौन हो, इसको लेकर उन दिनो बडी चर्चा थी। नेहरूजी चाहते थे कि यह पद राजाजी को मिले। सरदार का रुझान राजेन्द्रबाबू की ओर था। एकदिन मैंने पूछ ही तो लिया, "बाबूजी, क्या आप राष्ट्रपति बनेंगे ?"

तब वह श्री किशोरलाल मशरूवाला के छोटे-से कमरे मे तख्त पर बैठे थे। शायद कही जाने को तैयार थे। मशरूवालाजी उनके सामने कुर्सी पर थे। यशपालभाई और मैं दोनो द्वार के पास खडे थे। उन्होने सुना, मुस्कराये, फिर एक क्षण जैसे सोच मे पड़ गए हो। उसके बाद एकाएक मुख की मुस्कान तिरोहित हो गई और काठिन्य उभर आया। बोले, "दोनो चाहेगे तो बनूगा अन्यथा नही।"

सभी जानते है, वह राष्ट्रपति बने। लेकिन मैं सोच रहा था, कहा अग्रेजी वैभव का प्रतीक यह सरकारी भवन, जहा मानवता सदा यात्रिक शिष्टाचार की चरण-चेरी रही है और कहा विदेहराज जनक और तथागत बुद्ध की भूमि का यह सरल मानव, मुक्त आकाश की भाति मुक्त मानवता ही जिसकी एकमात्र सम्पत्ति है। क्या अग्रेजो ने कभी कल्पना की होगी कि धोती-कुरता पहनकर एक सीधा-सादा आडम्बरहीन व्यक्ति इस कुर्सी पर बैठेगा ? प्रश्न उठा—क्या यात्रिक शिष्टाचार और रूढिया इन विद्रोहियो के सरल जीवन को कुचल नही देंगी ? हमे मान लेना चाहिए कि ऐसा हुआ है। विरासत मे मिली रियासत मे हम खो गए

हैं। परन्तु राजेन्द्रबाबू उन व्यक्तियो मे से थे, जिन्हे सदा अपवाद कहा जाता है। यह बात नही कि उनमे परिवर्तन नही हुआ था। मूछें छट गई थी। वस्त्र करीने से पहनने पडते थे—शेरवानी और चूडीदार, परन्तु जो एक बात नही हो सकी थी वह यह थी कि उनकी टोपी ने कोण बनाना नही छोडा था और यह इस बात का प्रमाण था कि इस व्यक्ति के स्वभाव मे कोई परिवर्तन नही हुआ है। हम आधा घण्टा उनके पास बैठे होगे, पर इसी बीच मे उनकी टोपी दसो दिशाओ का दिग्दर्शन कर चुकी थी। एक क्षण के लिए भी हम यह कल्पना नही कर सकते थे कि भारत गणतन्त्र के सर्वप्रथम व्यक्ति से बातें कर रहे है। कभी कोई फाइल देखने लगते, कभी आराम से कुर्सी की पीठ पर झुक जाते। बातो-ही-बातो मे मैं मैने कहा, 'भारत ने स्वतन्त्र होते ही राजाओ की सस्था को तो समाप्त कर दिया, परन्तु सयोग की बात देखिये, सर्वोच्च शासक के रूप मे उसे अभी भी राजा ही मिल रहे हैं। श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्य अतिम गवर्नर जनरल थे और आप प्रथम राष्ट्रपति हैं।"

यह बात मैंने एक लेख मे लिखी थी। उसे देखकर वह खुलकर हँसे, बोले, "खूब लिखा है, और तुमने ही नही, अग्रेजी के एक लेख मे भी इसी प्रकार लिखा गया है।"

और उसी बालोचित सरलता के साथ वह उस लेख की चर्चा करने लगे। न जाने तब कैसे एक ऐसी पुस्तक की चर्चा चल पडी, जिसकी भूमिका उन्होने लिखी थी, परन्तु जो इस योग्य नही थी। जब हमने इस बात की ओर उनका ध्यान खीचा तो उन्होने फाइल पढते-पढते एक सलज्ज मुस्कान के साथ धीरेसे कहा, "वह गलती तो हो ही गई।"

शब्द कहने की वह रीति, वह मुद्रा और वह मुस्कान! उस क्षण जैसे हम थे भी और नही भी थे। उस दृश्य को मैं इस जीवन मे कभी नही भूल सकता। इतनी विनम्रता, इतनी स्पष्ट स्वीकारोक्ति! वह भोले थे और लोग उनके भोलेपन का लाभ उठाते थे। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे मनीषी भी ऐसे लोगो के सामने झुक जाया करते थे। इसलिए इसमे राजेन्द्रबाबू का अधिक दोष नही था। जब वह पहली बार काग्रेस के अध्यक्ष चुने गए तो हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध पत्रकार को

उनके चित्र की आवश्यकता हुई। एक नया फोटोग्राफर लेकर वह उनके पास पहुचे। यह फोटोग्राफर महोदय इतने कुशल थे कि कई घटे तक राजेन्द्रबाबू से कसरत करवाते रहे, लेकिन चित्र फिर भी नही खीच सके। परन्तु क्या मजाल जो राजेन्द्रबाबू अप्रसन्न हुए हो ! वर्धा मे कुछ-कुछ ऐसा ही अनुभव हमे भी हुआ। यशपाल भाई ने जैसे चाहा, वह वैसे ही कोण बदलते रहते। यही नही, एक सर्वोदय कार्यकर्ता उनके साथ फोटो खिंचवाने को बजिद थे। यशपालजी जितना उन्हे बचाने की कोशिश करते, वह उतना ही आगे आ जाते। इस रस्साकशी को राजेन्द्रबाबू बिना किसी मनोमालिन्य के तटस्थ भाव से देखते रहे, बोले कुछ नही। जब यशपालजी ने कहा तभी उठे।

चित्र के अतिरिक्त हमने उनसे एक लेख की माग भी की थी। ठीक समय पर हम लोग उनके पास पहुचे और फर्श पर जा बैठे। वह गद्दे पर बैठे हुए थे और उनके पीछे दो बडे तकिये थे—एक गोल, दूसरा चौडा। उनके चारो ओर कागज बिखरे पडे थे। सम्भवत, अपने किसी भाषण की तैयारी मे लगे थे। उन्होने पुराने फैशन की कत्थई रग की बडी पहनी हुई थी। बाल खिचडी थे—न बडे, न छोटे। मूछें छटी हुई थी। तनी हुई गोलाकार भौंओ और नीचे नाक के पास उभरे हुए मास ने उनकी आखो के चारो ओर एक चक्र बना दिया था। सावले मुख पर एक अन्तर्मुखी मुस्कान झलक रही थी। कद लम्बा और शरीर भरा हुआ था। गले मे ताबीज, हाथ मे चादी की अगूठी।

उन्होने सप्रश्न हमे देखा। यशपालजी से वह परिचित थे। उन्होने बाबूजी से कहा कि समय होने पर आपने कुछ लिखा देने को कहा था। बाबूजी ने ऊपर देखा। बोले, "मैंने कहा था कि मेरे पास समय नही है। इतना व्यस्त हू।"

तभी उनके निजी सचिव चक्रधरबाबू ने कुछ कहा। यशपालजी भी कुछ बोले। लगा कि अब लौटना पडेगा कि सहसा बाबूजी बोल उठे, "अच्छा बैठिये।"

और उन्होने बोलना शुरू किया। वह कभी तकिये का सहारा लेते, कभी आगे झुकते, कभी हाथो का सहारा लेते, कभी ऊपर देखते, कभी

दूसरे हाथ से अगूठी को घुमाने लगते। बीच मे किसी ने आकर प्रणाम किया तो सहज भाव से बोले, "बैठिये !" फिर कुछ पूछा और लिखाने लगे। लिखा चुके तो कहा, "जो ठीक करना हो, कर लेना।"

और हस्ताक्षर बना दिये। यशपालजी बोले, "पढकर सुनाऊ ?"

उत्तर दिया, "नही, क्या करना है ! कुछ बात हो तो ठीक कर लेना।"

हमने प्रणाम किया और लौट आये।

चक्रधर बाबू देखते रह गए। यशपालजी को लेख मिल गया, बडे नेहरू ने एक बार कहा था कि काग्रेस मे गाधी-नीति के अनेक आचार्य है और जिनके आचार्यत्व मे शका नही की आ सकती, परन्तु यह नि सदेह कहा जा सकता है कि गाधी-नीति को जीनेवाले बहुत कम है, उन बहुत कम लोगो मे है राजेन्द्रबाबू।

परन्तु उनको मात्र गाधी-नीति का परिणाम कहना उनके साथ अन्याय होगा। वस्तुत गाधी-मार्ग के लिए जिस स्वभाव और साधना की आवश्यकता होती है, राजेन्द्रबाबू उसी साधना और स्वभाव के मूर्त्त रूप थे। गाधी-नीति से कही अधिक उनकी सफलता का श्रेय इसी स्वभाव और साधना को है। इस दृष्टि से वह भारतीय मानस के सुदर प्रतीक थे।

गाधीजी ने कही लिखा है, "राजेन्द्रबाबू का त्याग हमारे देश के लिए गौरव की वस्तु है। नेतृत्व के लिए इन्ही के समान आचरण चाहिए। राजेन्द्रबाबू का जैसा विनम्रतापूर्ण व्यवहार और प्रभाव है, वैसा कही भी किसी भी नेता का नही है।" ये शब्द योही नही लिख दिये गए थे। इनके पीछे ज्वलत सत्य और प्रत्यक्ष प्रमाण है। उनका पवित्र चरित्र इन शब्दो की सरल, सुबोध व्याख्या है। उनमे गभीरता, प्रतिभा, नियत्रण-शक्ति और सचालन-क्षमता का अभाव भी नही था, परन्तु विद्वान होते हुए भी उनमे राजाजी की बौद्धिक विचक्षणता नही थी। कार्यक्षमता होते हुए भी वह नेहरूजी की स्फूर्ति से रहित थे। सफल सेनानी होते हुए भी सरदार पटेल की धाक से बहुत दूर थे। वह तो केवल 'विद्या विनयेन शोभते' का उदाहरण थे। दूसरे नेता

महान हैं, वडे है, परन्तु राजेन्द्रबाबू वडे होने के साथ-साथ अच्छे भी थे—ऐसे अच्छे जैसी मा । मा के सामने वैठकर कोई भय से नहीं कापता, स्नेहिल आत्मीयता से भरता है । वही मानवता की आधारभूमि है ।"

गाधीजी ने अपने समकालीन बडे और छोटे अनेक व्यक्तियो के बारे मे लिखा था और वहुत लिखा था, परन्तु उनके समीपवर्ती व्यक्तियो मे राजेन्द्रबाबू ही ऐसे थे, जिनके बारे मे गाधीजी ने इधर-उधर दो-चार शब्दो के अतिरिक्त कुछ विशेष नही लिखा । जब मैं गाधीजी के ऐसे लेखो का सग्रह कर रहा था और वहुत खोजने पर भी जब राजेन्द्रबाबू के बारे मे कुछ नही मिल रहा था तो मैं उनके पास गया और उनसे ही पूछा । उन्होने अपनी स्वाभाविक सलज्ज मुस्कान के साथ जवाब दिया, "मुझे कुछ नही मालूम ।"

"आपको याद हो, गाधीजी ने कोई लेख लिखा हो ?"

"जहा तक मुझे मालूम है, उन्होंने कोई ऐसा लेख नही लिखा ।"

"कोई ऐसा पत्र आपके पास हो, जिसमे आपकी चर्चा हो ?"

"नही ।"

यह मुझे बहुत बाद मे पता लगा कि गाधीजी ने उनके बारे मे यह प्रसिद्ध वाक्य लिखा था—"एक व्यक्ति तो ऐसा है, जिसे मैं जहर का प्याला दू तो वह उसे नि सकोच पी जाय ।" इसके बाद क्या और कुछ लिखने को रह जाता है ?

औपचारिक और अनौपचारिक रूप मे हमे अनेक बार उनके दर्शन करने का अवसर मिला और हमने उन्हे सदा एकरस पाया । अग्रेज शासको द्वारा निर्मित सरकारी भवन मे भी उनके स्नेह का स्रोत नही सूखा । अतिम बार जब उनके दर्शन करने का अवसर मिला तब वह अपनी वडी बीमारी से स्वस्थ हो रहे थे । नित्यप्रति रामायण की कथा सुना करते थे । एक दिन हम भी वहा पहुच गए । स्वास्थ्य की चर्चा करते हुए उन्होने कहा था, "अब पैर साथ नही देते । चलने मे कष्ट होता है ।"

फिर भी जब वह जा रहे थे, न जाने कितने विदाई-समारोह राष्ट्र-पति भवन मे हुए और वह हर ऐसे समारोह मे स्वय उपस्थित होते

थे । पाच मिनट का समय देकर पच्चीस-पच्चीस मिनट तक बैठते उन्हे हमने देखा । वस्तुत उनका चरित्र गगा की तरह पवित्र ही नही, दूसरो को पवित्र करनेवाला भी था । हिमालय की भाति स्वय गौरवपूर्ण नही, वल्कि दूसरे को गौरव प्रदान करनेवाला था । आकाश की भाति स्वय मुक्त नही, वल्कि दूसरो को मुक्त करनेवाला था । गोस्वामी तुलसीदास के शब्दो मे, "भरत न होई राजमद विधि हरिहर पद पाइ", के वह साक्षात मूर्ति थे । वह सचमुच 'भरत' थे ।

: ११ :

जिनके नयनों में स्वर्ग है

१९५५ की वासन्ती सन्ध्या, २२ फरवरी, मगलवार, तीन वजे होगे । सहसा टेलीफोन की घण्टी वज उठी, सदा वजती रहती है । पर दो क्षण वाद क्या देखता हू कि यशपालभाई प्रसन्न होकर मुझसे कह रहे है, "राष्ट्रपति भवन चलना है ।"

"क्यो ? क्या है वहा ?"

"वहुत ही महत्वपूर्ण वात है । हेलन केलर आ रही है । अभी-अभी श्रीकृपलानो का फोन था । हम सव चल रहे हैं । मार्तण्डजी, मालिक, तुम और मैं ।"

मन उत्फुल्ल हो आया । इन्ही के लिए तो मार्क ट्वेन ने कहा है, "१९ वी सदी के दो अत्यन्त रोचक चरित्र हैं—नैपोलियन और हेलन केलर ।"

वह न देख सकती हैं, न सुन सकती हैं, वोल भी नही सकती । फिर भी विश्वविद्यालय की स्नातिका है । अग्रेजी भापा मे उन्होंने विशेप सम्मान प्राप्त किया है । दर्शन उनका प्रिय विपय है । लिखती है, मानो कविता करती है । हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने ३०० वर्प पुरानी परम्परा को तोडकर उन्हे 'डाक्टर आफ ला' की डिग्री प्रदान की है । नेत्रहीन होकर

भी, जिनके नेत्र नही हैं उनकी वह दृष्टि है। मूक होकर भी, जो बोल नही सकते उनकी वह वाणी है। निराशा और असम्भव का वह मूर्तिमान निषेध है। मिल्टन अन्धकार और प्रकाश के बारे मे सब-कुछ जानता था। जब उसने लिखा, "उसकी गति मे शालीनता है, उसके नयनो मे स्वर्ग है", तब निश्चय ही उसने हेलन केलर के समान किसी व्यक्ति की कल्पना की होगी। उसी हेलन केलर से मिलने जाना है। मैंने तुरन्त कहा, "अवश्य चलूगा।"

इसी उत्साह मे समय से कुछ पूर्व ही पहुच गए। देखता हू, अभी वहा कोई नही है। कुछ क्षण बाद श्रीहुमायू कबीर और फिर मौलाना अब्बुल कलाम आजाद वहा आते है। फिर तो राष्ट्रपति भवन का वह चिर-परिचित अशोक कक्ष गतिमान हो उठता है। यह हैं उप-राष्ट्रपति, वह आते है डा० देशमुख, श्री रेड्डी, श्री देशमुख और कुछ अधिकारी भी हैं। प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति सबसे बाद मे आते हैं। आज न विशेष नियन्त्रण है, न विशेष नियम-कानून की पाबन्दी। सब कुछ स्नेह-गोष्ठी जैसा है, मानो कोई पारिवारिक मिलन हो।

पाच बजने मे अभी भी कुछ मिनट शेष है। फाल्गुनी अमावस्या वासन्ती मादकता से पूर्ण है। सामने की खिडकी से देखता हू, शानदार मुगल उद्यान हलके आवरण से घिरता आ रहा है। शीघ्र ही सब कुछ अन्धकार मे छिप जायगा, गुलाब के ये प्यारे-प्यारे सुन्दर पुष्प भी। पर मेरा ध्यान आज इधर नही है। रह-रह कर सामने के द्वार को देखता हू। सहसा पर्दा हिलता है और उसके पीछे से प्रकट होती है दो नारिया। निमिष मात्र मे अशोक-कक्ष स्तब्ध हो रहता है। वातावरण मे जैसे तरलता उमड आती है। पाता हू कि दाहिनी ओर जो नारी है, उनके मुख पर स्नेह-दीप्त है। नयनो से शाश्वत करुणा झर रही है। उन्होने हलके नीले रग का गाऊन पहना है। पैरो मे सफेद जालीदार सेण्डल है और सिर पर जो टोपी है मानो वह चमेली के फूलो से गुथी है। उसकी पवित्र गन्ध वातावरण को सुवासित कर देती है। उनके गौर वर्ण मे स्पष्ट ही लालिमा दिखाई दे रही है। मै अनुभव करता हू, "उनके चारो ओर निस्तब्धता और अन्धकार अवश्य है, पर

उनके विचारो मे रगो की तरगे है।"

ये उनके अपने शब्द है। मैंने उस दिन इन्ही शब्दो को मूर्त्त देखा और मूक हो रहा। बोल कर अपने मन-पटल पर अकित उस पवित्र प्रभाव को धूमिल करने की तनिक भी इच्छा नही हुई। उनके साथ उनकी मन्त्री कुमारी पौली थॉमसन है जो लम्बी है, पर शीघ्र ही देखता हू कि वह अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि, सजग और विनम्र है। वही तो हेलन केलर की दृष्टि है, वाणी है।

धीरे-धीरे आकर कुमारी हेलन केलर मुगल उद्यान के समीपवाले कोने मे एक सोफे पर बैठ जाती है। फिर बारी-बारी वहा उपस्थित व्यक्ति उनसे मिलते हैं। मैं उनके पास खडा मन्त्र-मुग्ध-सा केवल उन्हे देखता ही रहता हू। वह डा० राधाकृष्णन के मस्तक को छूकर कुछ कहती हैं। दर्शन के सम्बन्ध मे वह उनसे विचार-विनिमय कर चुकी है। प्रधान-मन्त्री के गाल वह बडे स्नेह से सहलाती है। वही पर तो उन्होने उनकी सौजन्य, सादगी और विचारपूर्ण नीति को अपनी अगुलियो के स्पर्श द्वारा पढा है। उनकी दृष्टि और वाणी जैसे अब उन अगुलियो मे समा गई है। जब कोई भी कुछ बात कहना चाहता है तो कुमारी पौली थॉमसन अपनी अगुलियो द्वारा उनकी अगुलियो का स्पर्श करती है। स्पर्श की गति इतनी तीव्र है कि बस गति ही दिखाई देती है। स्पर्श ही उनकी भाषा है, जो शब्दहीन है पर अर्थ-गर्भित है। वह स्पर्श उनके लिए उतना ही सहज है जितना किन्ही दो व्यक्तियो के लिए स्वर। अगुलिया हिलती है और कुमारी थॉमसन इनकी मूक भाषा को शब्द देती है। कही कोई आशका नही, झिझक नही। सहसा बीच मे रुककर कुमारी केलर कुमारी थॉमसन के मुख पर हाथ रखती है। वह गति करता है। उस गति द्वारा वह कुछ सुनती है, कुछ कहती है।

सोचता हू, मानव ने स्वर का आविष्कार न किया होता तो न होता शोर, न होती यह अशान्ति; होता केवल प्यार। पर नही, आज स्वर से मुक्ति पाने की बात सोचना पलायन है। जो नहीं है वह बहुधा प्यारा लगता है।

राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, शिक्षा-मन्त्री और दूसरे

मन्त्री, सभी उनसे बातें कर चुके है। कुछ बैठे है, कुछ खडे-खडे बाते कर रहे हैं। अभी-अभी किसी ने पूछा था, "हमारे राष्ट्रपति कैसे है ?"

कुमारी हेलन केलर ने उत्तर दिया था, "मेरा ख्याल है कि वह बडे प्यारे है। वह न केवल वढिया व्यक्ति है, वल्कि दूसरो को मोह लेने-वाले और प्रभावशाली है।"

सहसा मेरे पास खडे हुए अजमेर के श्री जीतमल लूणिया मुझसे कहते है, "इनसे कहो, मैंने इनकी जीवनी हिन्दी भापा मे सवसे पहले प्रकाशित की थी।"

मैं तुरन्त उन्हे कुमारी थॉमसन के पास ले जाता हू। उनका परिचय देता हू और वह अगुलियो की भाषा मे कुमारी हेलन केलर से सव-कुछ कह देती है। सुनकर उनके मुख पर जैसे तरल माधुर्य का ज्वार उमड आता है। बोल उठती है, "थैंक यू।"

यह क्या ? वह बोल उठी। "मूक होइ वाचाल, पगु चढे गिरिवर गहन।" चमत्कार आज भी सम्भव है और मनुष्य के हाथ मे है। वेशक, वह शब्द गुफित न होकर जैसे वायु मे छितरा गये हो, लेकिन मेरे कर्ण-रन्ध्र पर जो शब्द अकित हुए वह स्पष्ट ही थैंक यू हैं। तव सहसा मुझे उस क्षण की याद आ जाती है जब उनकी पहली अध्यापिका कुमारी एन सलीवान अनुशासनहीन वालिका हेलन के साथ सघर्प कर रही थी। विलियम गिब्सन ने "दि मिरेकिल वर्कर" मे इस सघर्ष का बडा सुन्दर चित्रण किया है

"हेलन को दबाकर वह पिछवाडे के पम्प के पास ले गई। पम्प के हैण्डिल पर उसने हेलन के हाथ जमाये। उन हाथो पर अपने हाथ रख-कर उसने हैण्डिल ऊपर-नीचे किया, फिर हाथ उठा लिये। हेलन समझ चुकी थी कि अब वह अकेली है—शिक्षिका एन के सरक्षण मे। एन के हाथ उठने के वाद भी वह हैण्डिल चलाती रही। पम्प से पानी निकला। एन ने हेलन को सामने लाकर पानी की धार से उसकी हथेलिया भिगोईं, फिर उसकी हथेली पर अगुली से लिखा, डब्ल्यू-ए-टी-ई-आर—वाटर।"

खाली वर्तन धार के नीचे रखकर उसने हेलन के हाथो से पानी

भरवा लिया । केलर-कुटुम्ब के सभी सदस्य डाइनिंग रूम से वाहर आकर दूर खडे सब देख रहे थे । हेलन का रिक्त चेहरा एन की ओर उठा हुआ था । एन ने बच्ची के भीतर मचे द्वन्द्व को भापा । हेलन के ओठ काप रहे थे । क्यो ?

पुरानी यादे ।

जब वह ६ मास की थी—वावा—एक शब्द था जो लड़ रहा था—वेताब था फूट पडने को—वावा ।

और सचमुच हेलन के गले से आवाज निकली—वावा उसके हाथ का बर्तन धरती पर गिर पडा । उसकी धातु झनक उठी । पानी ने हेलन के पैर भिगो दिये । वह फिर से रिरियाई—"वावा ।"

एन ने आनन्दावेग से पागल होकर बच्ची के हाथ थाम लिये और चीख उठी—"यस, यस, डियर—ओ माई डियर ।"

हेलन ने हाथ छुड़ाये और जमीन पर बैठ गई । वर्षों से बन्द मस्तिष्क के द्वार आज खुल गए थे और इस महान विश्व के प्रति अदम्य कौतूहल से हेलन उबल रही थी । उसने जमीन को छूकर देखा और प्रश्नवाचक, उत्सुक हथेली उनकी ओर बढा दी ताकि वह उस पर 'अक्षर' के 'इशारे' लिखकर बतायें कि नीचे जो चीज है, जिस पर वह खडी है, क्या है, इसे क्या कहते हैं ?

एन ने हथेली पर लिखा. "जी-आर-ओ-यू-एन-डी—ग्राउण्ड ।"

हेलन ने पम्प को छुआ । एन ने हथेली पर हिज्जे लिखे, "पी-यू-एम-पी—पम्प ।"

एन का हर्ष अतिरेक पर पहुच गया था । चीखने लगी, "श्रीमती केलर, श्रीमती केलर ।"

उसके पुकारने से पहले ही पूरा केलर-कुटुम्ब पास आ चुका था ।

कुमारी हेलन केलर जन्मजात अन्ध-बधिर नही हैं । १८ महीने की आयु मे अचानक रोग के कारण वह वाणी और दृष्टि, दोनो खो बैठी । जिस समय कुमारी सलीवान ने उनका भार सम्भाला तब वह लगभग ७ वर्ष की थी । चेहरे पर भोलापन कम, शिकायत अधिक थी । अनुशासनहीन भी थी । पर बुद्धि की कमी नही थी । ६ मास की आयु

से ही वह बोलनेलगी थी। वाटर को "वावा' कहती थी। उसी बुद्धि को वापस लाने के लिए कुमारी सलीवान को घोर सघर्ष करना पडा और वह सफल हुईं। दृष्टि और ध्वनि, दोनो को उन्होने अगुलियो की साकेतिक भाषा मे रूपान्तरित कर दिया।...

मैं इन्ही विचारो मे खोया-खोया न जाने कहा पहुच गया था कि सहसा चौंककर देखता हू, वह ७५ वर्षीया करुणा मूर्ति प्रधानमन्त्री के पास एक-दूसरे सोफे पर जा बैठी है। पण्डितजी कही बहुत दूर विचारो के सागर मे डूब गए हैं और हेलन केलर गोद मे एक तकिया रखे धीरे-धीरे उस पर हाथ फेर रही है। सब शान्त, मौन हैं। केवल पास के कक्ष से आती हुई सगीत की ध्वनि अन्तर को तरगित कर रही है। मेरी जिज्ञासा जागती है। पाता हू कि किसी ने उनसे पूछा था कि क्या वह बता सकती है, इस समय कौन-सा सगीत हो रहा है? वह उसी सगीत की तरगो के स्पन्दन को मृदु मन्द गति से तकिये पर हाथ फेरती हुई आत्मसात कर रही हैं।

सहसा सगीत रुक जाता है और उनकी अगुलिया कुमारी थॉमसन की अगुलियो के साथ नृत्य करने लगती है। वह सब कुछ बता देती है। स्वर, लिपि, लय, ताल, धुन सभी कुछ तो सही है।

स्वय कुमारी केलर ने लिखा है, "सुख का एक द्वार बन्द होने पर दूसरा खुल जाता है, लेकिन कई वार हम बन्द दरवाजे की तरफ इतनी देर तक ताकते रहते है कि जो द्वार हमारे लिए खोल दिया गया है, उसे देख नही पाते।" वह भी उस द्वार को न देख पाती यदि कुमारी सलीवान उनके जीवन मे प्रवेश करके उस दूसरे खुले हुए द्वार की ओर बरबस उनका मुह न कर देती। उन्ही के शब्दो मे, "मेरी अध्यापिका मेरे इतने पास हैं कि मैं कभी अपने को उनके बिना सोच ही नही सकती। मुझमे जो कुछ अच्छा है, वह सब उन्हीका है। मुझमे कोई भी प्रतिभा, कोई भी उत्साह, कोई भी प्रसन्नता ऐसी नही है, जो उनके प्रिय स्पर्श द्वारा जागृत न हुई हो।"

फिर विचारो मे खो जाता हू—क्या इस नारी को देखते हुए जीवन मे निराशा के लिए स्थान है? ससार मे जो सर्वोत्तम है, वही इस अपग

नारी मे मूर्त हुआ है। जिस चेहरे पर कभी शिकायत और शरारत थी वह आज ममता और करुणा का प्रतीक है। "जो व्यक्ति भी उनके सम्पर्क मे आता है, मानव भावना मे एक नई शालीनता का अनुभव करता है।" (मार्क ट्वेन)

हमे पूरा एक घण्टा उनके समीप रहने का अवसर मिला। उस अनुभूति को शब्दो मे नही बाधा जा सकता। उस दिन मै स्पष्ट समझ सका कि ससार मे अनिवार्य कुछ भी नही है। बडी-से-बडी शारीरिक अपगता मनुष्य के मार्ग की बाधा नही बन सकती। वह दृष्टिहीन होकर भी दृष्टिवालो से अच्छी है। बहरी होकर भी वह अन्तरवीणा की झकार सुनती है। वह कहती है, "यह सत्य है कि मैं वृक्षो की झुरपुट मे से झाकते हुए चन्द्रमा के दर्शन नही कर सकती, लेकिन मेरी अगुलिया जल की हिलोरो मे अठखेलिया करती हुई चादनी की झलमलाहट को स्पर्श करती हुई-सी प्रतीत होती हैं। प्राय. मैंने शीतल हवा के झोको से बिखरे हुए कोमल पुष्प-पत्रो का शरीर पर अनुभव किया है। अत मेरे विचार मे सन्ध्या भी एक विशाल उद्यान की भाति है, जिसमे से असख्य पत्ते उड कर समस्त आकाश मे बिखरे हुए है।"

यह है कुमारी केलर का आत्म-दर्शन। वह तैरना, घुडसवारी करना और नाव खेना जानती है। वह शतरज और ताश भी खेल लेती हैं। इसलिए यह कहना असत्य न होगा कि शारीरिक अप गता यदि बाधा है तो मानवता को जगाने के लिए है। उन्ही के शब्दो मे, "अगर उल्लघन के लिए रेखाए न होती, जीतने के लिए बाधाए न होती, पार करने के लिए सीमाए न होती, तो मानव-जीवन मे पुरस्कार की तरह आनेवाले आनन्द के अनुभव मे कुछ-न-कुछ कमी आ जाती।"

उस दिन जब हम वहा से लौट रहे थे तो इसी आनन्द का अनुभव कर रहे थे। आज भी मन जब निराशा की गुजल मे फसने लगता है तो उस कर्ममयी की ममतामूर्ति दृष्टि मे उभर आती है और उसी के साथ-साथ अन्तर मे उभर आता है उस अव्यक्त आनन्द का अनुभव, जिसे कहते है आत्मविश्वास, आत्मप्रेरणा, आत्मनिष्ठा। "ऐसा स्वस्थ

समाज जिसकी सम्पदा हँसमुख बच्चे और प्रसन्न नर-नारिया हो, जिस की श्री-सुषमा, शाति और सृजनात्मक कार्यों से निर्मित हो, वह किसी के हुक्म से बना-बनाया हमे नही मिलेगा। वह तो स्वय अपने हाथो से गढना पडेगा।"

कुमारी हेलन केलर अपने इसी ज्वलन्त बिश्वास की जीवन्त प्रतिमा है। इस जीवन्त प्रतिमा के सान्निध्य मे उस दिन कुछ क्षण बिताकर हम कृत-कृत्य हो गए।

: १२ :

महात्मा भगवानदीन

६ नवम्बर को तार आया कि ४ नवम्बर १९६२ को दिन के दो बजे महात्मा भगवानदीन चले गए।

आयु ८० वर्ष की थी, इसलिए जाने का बहुत अफसोस नही हो सकता और यू भी मृत्यु शोक का कारण नही है, मुक्ति ही वह देती है। नाश के बाद ही नया अकुर फूटता है। फिर उनका जीवन तो एक ऐसी जीती-जागती प्राणमय पुस्तक की तरह था जो निरन्तर हर किसी को जीवन्त प्रेरणा से भरती रही है। फिर भी सोचता हू—दो दिन बीत गए, कही कोई चर्चा नही, समाचार तक नही। सुनता हू अन्तिम श्वास तक वह शान्त थे। शान्त भाव से बातें करते रहे और चले गए। उनकी दृष्टि से तो दो दिन की यह शान्ति भी शुभ ही है। लेकिन जो उनके चारो ओर हैं, विचारणीय उनके लिए है। वह तो रवि बाबू की इस कविता को सार्थक कर गये, "मरण रे तुहु मम ताप घुचाओ।" हे मृत्यु मेरे ताप शान्त करो।

देखने मे वह सदा शान्त रहे। जो ताप था, वह अग्नि बनकर उनके अन्तर को तपाता रहा और उनका वह तपा हुआ जीवन व्यवहार, वाणी और अक्षर तीनो के माध्यम से समान रूप से व्यक्त हुआ। वह

सघर्षों और प्रयोगो की रोमाचकारी कहानी बन गया। वह एक ऐसे ज्वालामुखी के समान थे, जो सदा शान्त और सौम्य दिखाई देता है। पर जिस क्षण भभकता है तो ध्वस-लीला का पार नही। लेकिन वह ध्वस-लीला ऐसी, जैसे वसुधा को उर्वरा बनाने के लिए अग्निदाह। इसीलिए ज्वालामुखी के मुख पर स्नेहिल आभा चमकती थी। इसलिए उनकी वाणी मे दृढता, शैली मे ओज और भाषा मे विद्रोह था। परम्परा मे कही वह समाते ही नही थे। उनका अन्तर मौलिक और उग्र विचार-धारा से निरन्तर सागर की तरह उफनता रहा। सागर जो गम्भीरता का उदाहरण है, लेकिन जिसकी लहरें चचल शक्ति की प्रतीक है।

दमे से जर्जर, क्षीणता की ओर झुकता हुआ, श्यामल गौर शरीर, दृढता की पूरक दाढी-विभूषित ठोडी और सुदूर गहन मे झाकती आत्मीयता से लबालब आखें। एक ढीलीढाली जाकेट, ढीलाढाला घुटन्ना, चप्पल और कन्धो पर पडी पतली-सी चादर। (शीतकाल हो तो कम्बल)। यही उनकी पार्थिव रूप-सम्पदा थी। सही मानो मे वह सन्यासी थे। ससार मे रहते थे, लेकिन वह उन्हे छूता नही था। वस्त्र पहनते थे, पर वह शरीर की शोभा नही थे, बन्धन भी नही थे। सेवा-सयम के वह व्रती थे। निर्मम-स्पष्टता उनका सहज स्वभाव था। जितनी मौलिकता से सोचते उतनी ही स्पष्टता से अपने को व्यक्त भी कर देते, इतनी कि बालक के लिए भी सहज बोधगम्य। उनकी भाषा मे साहित्यिक माधुर्य न रहता, लेकिन वह मन को पकडती, उद्वेलित करती और सोचने को विवश करती। उसके पीछे अनुभूति का अक्षय भण्डार था। जगल-पहाड, आश्रम-निकेतन, तीर्थ-नगर कहा-कहा नही घूमे। जेल मे भी कम नही रहना पडा। असहयोग के अति-प्रारम्भिक काल से ही वह पहली पक्ति मे थे। २६ वर्ष की भरी जवानी मे घरबार छोडकर वह आजादी की लडाई मे कूद पडे और ८० वर्ष की भरी आयु तक युद्ध ही करते रहे। कोई आडम्बर नही, आकाक्षा भी नही। साहित्य, समाज और देश सभी को इतना कुछ दिया कि उसका मूल्याकन करना कठिन है। कविता, कहानी, निबन्ध सभी कुछ लिखा। उनकी डायरी, उनके पत्र, आत्ममन्थन और आत्मीयता के कारण

साहित्य की निधि हैं। उनके समूचे साहित्य मे अनुभूति का तेज है, कल्पना का चमत्कार नही। आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान और बालसाहित्य दोनो ओर उनकी सहज गति थी। बाल-साहित्य के वह विशेषज्ञ थे। बच्चो के प्रति उनका स्नेह, उनकी जिज्ञासा और उनका ज्ञान कौतूहल से भर देता था। मेरी छोटी-सी बच्ची को एक दिन उन्होने उठाकर इस तरह उल्टा-पुल्टा और उछाला कि सहसा मन के किसी कोने मे आशका पैदा हो आई। लेकिन उनका दृढ विश्वास था कि जीवन प्रारम्भ से ही ऐसे परिचालित किया जाना चाहिए कि वह साहस की मूर्ति बने। किस प्रकार उन्होने जिद्दी-से-जिद्दी और दुष्ट-से-दुष्ट बालक को स्नेह, सौम्यता और कर्मठता की मूर्ति बना दिया, उसकी कहानिया आज भी अचरज से भर देती है। वह मानते थे कि बालक न तो जिद्दी है और न दुष्ट। दोष हमारी दृष्टि का है। व्यवहार का है।

वर्षों पहले पजाब मे उनसे भेंट हुई थी, लेकिन उससे भी बहुत पहले सम्भवत ३०-३२ की बात है। एक दिन हिसार मे अपने घर बैठा था कि देखता हू, धवल वस्त्रधारिणी एक सुन्दर सौम्य नारी ने वहा प्रवेश किया। वह कमरा उनके व्यक्तित्व से जैसे दीप्त हो उठा। चर्च मे जैसे नन होती है वैसे ही वह मुझे लग रही थी। आखो से स्नेह झरा पडता था। किसी जैन शिक्षा सस्था के लिए चन्दा मागने आई थी। जबतक मेरे मामा चन्दा लायें वह मेरी ओर मुडी, बोली—"क्या पढ रहे हो ?"

हाथ मे कोई उपन्यास था। देखकर बोली, "परख पढा है ?"

मैंने उत्तर दिया, "जी नही। किसने लिखा है ?"

वह बोली, "जैनेन्द्रकुमार ने। उस पर पुरस्कार मिला है। वह मेरा लडका है।"

सुनकर मेरा किशोर मन अभिभूत हो आया। कुछ देर बाद न जाने किस प्रसग मे उन्होने फिर पूछा, "महात्मा भगवानदीन का नाम सुना है !"

मैंने तुरन्त कहा, "हा हा, वे नागपुर झण्डा सत्याग्रह के नेता थे ना !"

वह मुस्कराईं। बोली, "हा, वह मेरे भाई हैं।"

तब ऐसा लगा, जैसे घर में स्वय महादेवी अवतरित हो गई है। राष्ट्रीय आन्दोलन मे वचपन से ही रुचि थी। एक-एक व्यक्ति, एक-एक घटना सब जैसे मेरे मन पर अकित हो गई थी। नागपुर-सत्याग्रह से भी इतिहास के विद्यार्थी की तरह, खूब परिचित था। पढने का चाव भी था। जिस नारी का सम्बन्ध साहित्य और राष्ट्र दोनो के निर्माताओ से हो, वह महादेवी नही तो और कौन है ? उनके रूप को देखकर मेरे मन मे जो श्रद्धा थी वह सहस्र-गुणा हो उठी। इसीलिए जब मैंने महात्मा भगवानदीन को पहली बार देखा तो वह मुझे पूर्व-परिचित ही जान पडे। प्रारम्भ मे बहुत आत्मीयता और स्नेह से बोलते थे। उनकी व्यग्रता और दृढता धीरे-धीरे प्रकट होती थी। लेकिन वह व्यग्रता समाज-सुधारक की व्यग्रता नही, एक अनुभवी शुभचिन्तक की व्यग्रता होती थी। अन्तर मे जो मौलिक चिन्तन की अग्नि दहकती थी, उसीका आवेग उन्हे व्यग्र कर देता था। हिसार मे जैन पब्लिक लायब्रेरी की खुली छत पर, सन्ध्या के झोलवोले मे मैंने उनको घण्टो बहस करते देखा है। एक नवयुवक वकील थे, सुधार की झोक थी, पर जैन रग कुछ गहरा था। वह न जाने क्या-क्या कहते चले जाते, लेकिन महात्माजी की प्रखर तर्क-शक्ति और तेजस्विता के सामने वह कभी नही ठहर सके, क्योंकि उनके चिन्तन का लक्ष्य सम्पूर्ण-मानव था, विभाजित नही। उस तर्कयुद्ध के समय सभी श्रद्धालु जैन अचरज और अविश्वास से उन्हे देखते ही रह जाते। मन मे उठता—क्या सचमुच यह जैन हैं ?

जन्म म वह जैन ही थे। जैन-साहित्य का अध्ययन उनका गहन था। लेकिन फिर भी उन्हे कभी भी विभाजित रेखाओ मे नही देखा जा सकता। वह वस्तुत सत्य के खोजी, वर्द्धनशील व्यक्ति थे। तभी तो हस्तिनापुर के जैन आश्रम से नागपुर से परिचालित राष्ट्रीय आन्दोलन मे पहुच गए। फिर उससे भी मुक्ति पाकर अखण्ड मानवता के उपासक वन गए। अनेकान्त की उपासना ने उन्हे अद्वैत की दृष्टि दी थी। खूब याद है, हिसार मे शायद आर्यसमाज की ही एक सार्वजनिक सभा थी। वह भी आमन्त्रित थे। वह आये और निष्पन्द-शान्त-भाव

से वैठे रहे । वोलना आरम्भ किया तो भी [illegible] वडी शान्ति से वोलते रहे, लेकिन फिर सहसा हुकार उठे, "अब मैं यहा से वदलता हू ।"

और वह सचमुच वदल गए । सौम्य ज्वालामुखी जैसे भभक उठा । तीव्र स्वर मे कहा, "आप लोग अपने को आर्य सस्कृति का उपासक मानते हैं, क्या आप नही जानते कि प्राचीन आर्य-नगरो मे धर्मशालाए नही होती थी । अतिथि घरो मे ठहरते थे । आज मानते हैं कि अतिथि पर विश्वास नही किया जा सकता । घर मे वहू वेटिया हैं । है तो क्या हुआ ? अरे क्या वह वहू-वेटियो को भगा ले जायगे और भगा ले जाने दो एकाध को । इस डर से आप अपना आतिथ्य धर्म क्यो छोडते है ? सदा थोडे ही भगाते रहेगे । अविश्वास करके धर्म छोडने से विश्वास करके ठगा जाना कही अच्छा है ।"

शब्द ठीक यही नही थे, पर अर्थ रत्ती-रत्ती यही था । सभा मे जैसे सन्नाटा छा गया । सुई गिरे तो उसका स्वर चौका दे । नेत्र विस्फारित जैन-अजैन सभी अविश्वास से उनकी ओर देखने लगे । पर वह तूफानी गति से वोलते चले गए, वोलते ही चले गए । समाधान भी उन्होने किया, लेकिन खूव याद है कि कई दिन तक यह वात उस छोटे-से नगर मे चर्चा वन कर गूजती रही । जैसे तालाव मे किसी ने पत्थर दे मारा हो ।

यह एक उदाहरण मात्र है । उनका समूचा साहित्य इसी तरह उद्वेलित करता है । नई दृष्टि भी देता है । वह दृष्टि क्रान्ति की है, सुधार की नही । "जवानो" और "जवानो, राह यह है" किसी भी अविश्वासी-आलसी को अदम्य साहस और अटूट निश्चय से भर सकने के लिए यथेष्ट है । उनके साहित्य मे उलझन नही है, क्योकि उनके अन्तर मे भी उलझन नही थी । आक्रोश है, आक्रोश है, तो आग्रह होगा ही, लेकिन वह विघटनात्मक नही है । सगठन उसका लक्ष्य है । जैसे वह वहुत कुछ करना चाहते हैं । इस इच्छा के पीछे तीव्र शक्ति है । यह ठीक है कि वह शक्ति अक्सर अनघड होती है । कभी-कभी उनके विचार इस हद तक अदभुत दिखाई देते हैं कि अचरज होता है, परन्तु

यह इसी कारण है कि वह कही सहारा और प्रमाण नही ढूढते, स्वय अपना मार्ग बनाते है। अहिसा को उन्होने स्वीकार किया था, पर वही क्या उनका एकमात्र साध्य थी ? हो ही नही सकती थी। साध्य तो एक नये समाज, एक नये मानव का निर्माण था। सो शस्त्र वहा वर्जित न थे।

ऐसे व्यक्ति के लिए आलोचक होना अनिवार्य है और वह उग्र आलोचक थे। मजाक मे भी वह उग्रता छिपती न थी। हिसार मे एक दिन तत्कालीन धुरीहीनता पर चर्चा चल रही थी। वह चुपचाप अखबार पढते रहे, सुनते रहे। फिर एकाएक हँसकर कहा, "समाज मे जितना सत्य था वह सब तो अकेला गान्धी पी गया। अब तो जो बचा है वह झूठ ही रह सकता है।"

आक्षेप करनेवाले गान्धीवादी थे, तिलमिला कर रह गए। लेकिन जैसा कि कहा जा चुका है, वह मात्र शब्दो मे विश्वास नही करते थे। प्रत्येक शब्द के पीछे प्रयोग की शक्ति थी। कितने ही क्रान्तिकारी विवाह उन्होने कराये, आश्रम खोले, आन्दोलनो का सचालन किया। बिना किसी साधन के निकल पडते थे। यह सब उनके अति साहसिक और अति उद्वेलित चिन्तन का परिणाम था। शिक्षा, साहित्य, समाज, परिवार, हर कही मौलिक चिन्तन की यह अग्नि प्रखर है। सजग इतने कि अध्ययन का कोई क्षेत्र अछूता नही छोडा। आकाशवाणी की वार्ताए, वादविवाद, नाटक, सुनते ही नही थे, गहराई से उन पर विचार भी करते थे। कितनी ही बार उनकी प्रशसा और प्रखर आलोचना मैंने पाई है। जाने से कुछ पूर्व उन्होने वार्ता की एक प्रतिलिपि मागी थी। उनकी वह इच्छा अब याद बनकर ही रहेगी।

स्वभाव से वह स्नेहिल थे, पर अनुरक्ति ने उन्हे नही पकडा था। आश्रम बनाकर छोडते उन्हे सकोच नही होता था। साहित्य भी उनका बिखरा पडा है, कोई लेखा-जोखा नही। न जाने कितना नष्ट हो गया। अर्थ भी कभी उनको अपना नही बना पाया। क्षमता कम नही थी, पर आये तो आये वह उसके पीछे न जायगे। जो निस्पृह है वही आत्म गौरव को पहचानता है। दुनिया की दुनियादारी उनके

लिए नही थी, इसलिए वह कही भी सहज भाव से समा जाते थे। व्यक्ति को खूब पहचानते थे, इसीलिए क्षमा करना भी जानते थे। उनके ऊपरी अनगढ और प्रखर व्यक्तित्व के नीचे स्नेह का निर्मल झरना निरन्तर कलकल करता रहता था। जो असहमत थे वे भी उनके प्रति एक निष्ठामय आदर और सम्मान का भाव अनुभव करते थे। सदा ऐसा महसूस करते कि जैसे वह एक विराट व्यक्तित्व के सामने हो। वह सचमुच एक सस्था थे, ऐसी सस्था, जो नये-नये आयामो को अपने मे समापन करने के लिए पिछले प्रत्येक क्षण से मुक्ति पाने की शक्ति रखती है। वह अब नही रहे, पर उनके साहित्य की खोज जब पूर्ण होगी, अनुभूतियो के क्षण जब सार्वजनिक बनेंगे तो मानव-जीवन की विचित्रता मुखर हो उठेगी। विराटता और भी अदभुत हो जायगी और उनकी निष्ठा का स्पन्दन हमे अपने को पाने की अपूर्व क्षमता से भर देगा।

: १३ :

एक बर्मी : एक कम्बोज

बर्मा के शान-राज्य मे प्रकृति-प्रिया ने जिस स्वप्निल सौंदर्य का वितान ताना है, नयन उसमे उलझ-उलझ कर रह जाते है। उस हरे-भरे बास-बहुल वन-प्रदेश की सघनता को चीरकर सर्पाकार मार्ग से ऊपर उठती रेलगाडी की मन्थर गति तब राही को तनिक भी नही खलती। हर ऊचाई जब घाटी बन कर रह जाती है, तब मन न जाने किस दर्शन मे उलझ जाता है। जीवन के शाश्वत पहलू—एक ओर गगन-चुम्बी शिखर-दूसरी ओर अतलस्पर्शी घाटी, दोनो मनोरम आकर्षक, दोनो भयानक-विकट '

सहसा चौक कर देखता हू कि यशपालजी बाथरूम मे गये और दूसरे ही क्षण उद्विग्न-उत्तेजित लौट आए। बोले, "यहा तो पानी ही नही है।"

सौभाग्य से गाडी तब एक छोटे-से स्टेशन पर रुकी थी और सवेरे के नाश्ते के लिए व्याकुल यात्रियो ने चारो ओर से चाय की दूकान पर आक्रमण कर दिया था। वही मुक्तमना बर्मी नारिया, वही चीख-पुकार, वही अविकसित प्रदेश की गरीबी, गन्दगी, देखू-देखू कि यशपालजी अपने स्वभाव के अनुसार गार्ड को पकड लाए। उस सुदर्शन वर्मी गार्ड ने कहा, "मै यहा क्या करू ? आप को थाजी जक्शन पर कहना था।"

यशपाल बोले, "वहा रात को कैसे कहता ! पानी की जरूरत तो यहा पडी।"

"तो मैं क्या कर सकता हू ?"

"यही मैं आपसे पूछता हू।"

"मैं कुछ नही कर सकता।"

वह शायद हमारी कठिनाई की गुरुता नही समझ रहा था, क्योकि बर्मी लोग कागज का प्रयोग करते है। पर यशपालजी उत्तेजित हो इस से पूर्व ही न जाने क्या सोच कर वह फिर बोला, "एक बाल्टी पानी से काम चलेगा ?"

मैंने एकदम कहा, "हा-हा, अभी तो चलेगा।"

यशपाल बोले, "नही-नही, टकी मे पानी चाहिए। मजिल अभी दूर है।"

वह सुदर्शन गार्ड झुझला आया था। पर हमसे कुछ कह भी नही सकता था। भीड मे के और भी कई व्यक्ति अपनी राय देने को उतावले हो उठे। एक सुदृढ डीलडौलवाले युवक ने बर्मा और भारत की तुलना कर डाली। फिर घृणा से भर कर बोला, "ये वर्मी "

आगे के शब्द ने मुझे चौंका दिया। सहसा मेरे मुह से निकला, "आप वर्मी नही हैं क्या ?"

विद्रूप से उसने कहा, "जी नही। मैं वर्मी नही हू।"

और वह तेजी से भीड में गायब हो गया। हतप्रभ हम सब एक-दूसरे को देखते रहे। यशपालजी फिर स्टेशन-मास्टर के कार्यालय की ओर लपके कि सहसा गाडी ने सीटी दी। चकित-विस्मित शतशत दृष्टिया अविश्वास से इजिन की ओर उठी—यह क्या, अभी तो

लेकिन गाडी पीछे की ओर लौट रही थी। जहा इजन मे पानी देने का पम्प था, वही जाकर हमारा डिब्बा रुक गया और देखते-देखते टकी पानी से भरने लगी। भर चुकी तो गाडी फिर यथापूर्व हो गई। और सुदर्शन गार्ड ने आकर शान्त भाव से कहा, "अब तो ठीक है।"

यशपालजी उसका हाथ झकझोरते हुए बोले, "बहुत-बहुत धन्य-वाद।"

मजिल पर पहुचते-पहुचते दोपहर कभी की बीत चुकी थी। प्रकृति की ऊष्मा मे आलस्य भर आया था। लेकिन टौजी के आकर्षण ने यात्रा की थकान को सहला दिया। हम बाहर आये। लेकिन देखते क्या हैं, एक-एक करके सभी टैक्सिया भर चुकी हैं। भाषा के अज्ञान ने हमको पछाड दिया। भारतीय बन्धु भी वहा थे, पर हमे अनदेखा करके सभी चले गए। एक बन्धु से मैने कहा, "हमारी कुछ सहायता कीजिए। हमे भी टौंजी जाना है।"

वह बोले, "अभी आता हू।"

पर उनका वह 'अभी' कभी नही आया। तब हमने अपने डिब्बे के साथी बर्मी कप्तान की शरण ली। वह टैक्सी मे बैठ चुका था। लेकिन उतर आया और यशपालजी को लेकर स्टेशन के एक अधिकारी के पास गया। कहा, "मैं तो रुक नही सकता। पर इनके टौजी जाने का प्रवन्ध आप करें।"

देखता क्या हू, वही सुदर्शन गार्ड सामने है। मुसकराकर उसने यशपाल से कहा, "आइये।"

जैसा कि हो सकता था, यशपालजी ने न केवल टौजी जाने का, बल्कि वापस रगून लौटने तक के प्रवन्ध का सारा भार उसके कन्धो पर रख दिया और मैं मुसाफिरखाने मे इधर-उधर घूमते हुए देखता रहा कि कभी वह स्टेशन-मास्टर के कमरे से हवाई अड्डे को टेलीफोन कर रहा है, कभी टाइम टेबुल निकाल कर गाडियो का मेल मिलाता है। कभी पोस्ट आफिस जाकर हवाई जहाज की खोज करता है और कभी टौजी के लिए टैक्सी की। आखिर उसने कहा, "हवाई जहाज का कुछ पता नही लगता। टौंजी पहुचकर आप वहा के कमिश्नर से

मिलिये। वही कुछ प्रबन्ध कर सकता है। तबतक मै फर्स्ट क्लास की दो सीटें आपके लिए सुरक्षित किये रखता हू। हवाई जहाज मे स्थान न मिले तो आपको ट्रेन से ही जाना होगा। टिकट तभी ले लीजिए।"

"और टैक्सी ?"

"अभी लीजिये।"

तभी सेना का एक ट्रक वहा आ कर रुका। एक भारतीय सिख उसका ड्राइवर था। गार्ड ने उसके पास जाकर कहा, "भारत के ये दो लेखक हमारा देश देखने आए है। इन्हे टौजी पहुचाना होगा।"

सरदारजी ने एक बार हमे देखा। साधारणतया कुछ पैसे लेकर ये लोग यात्रियो को ले जाया करते है। पर न जाने क्या सोचकर वह बोल उठा, "इन्हे ले जाना हमारा सौभाग्य है।"

सुदर्शन गार्ड मुसकराया। बोला, "तो आइये, अब कॉफी पी लीजिए।"

यशपालजी ने कहा, "हा-हा आपने इतना कष्ट उठाया। हमारे साथ कॉफी पीजिये।"

गार्ड की मुसकराहट और मुखर हो गई। बोला, "आप हमारे देश के मेहमान है।"

विदा के समय सचमुच मन कुछ भीग आया। बडे स्नेह से हाथ मिलाकर वह जाने को मुडा, तो झिझका, फिर ट्रक के पास आकर उसने धीरे से कहा, "अप सोचते होगे, मैंने आपकी इतनी सहायता क्यो की ?"

एक क्षण मौन रहकर फिर बोला, "मेरे पिता भारतीय यहूदी थे। मेरी नसो मे भारतीय रक्त भी है।"

और वह चला गया।

और मैं सोचता रहा—भारत का रक्त। वह हिन्दू व्यापारी तो विशुद्ध भारतीय था। फिर भी उसने नही, नही मानवता का रक्त से कोई सम्बन्ध नही है।

एक कम्बोज

यात्रा का प्रवाह सतत गतिशील था। एक दिन पाया वर्मा, थाई-

लैंड, सभी पीछे छूट गए है । भारतीय सस्कृति के प्रतीक अकोरवाट के सुप्रसिद्ध मदिर देखकर जब हम कम्बोडिया की राजधानी नामपेन के हवाई अड्डे पर उतरे तो न किसी व्यक्ति से परिचय था, न किसी को आने की सूचना तक दी थी। एकमात्र आशा दूतावास पर थी। पर कस्टम से छुट्टी पाकर बाहर आये तो एक भी परिचित चेहरा नही दिखाई दिया । अब क्या करें ? कि सहसा यशपाल बोल उठे, "वह देखो, बाहर एक भारतीय सज्जन दिखाई दे रहे है। अवश्य यह दूता-वास से आये है ।"

और वह उनकी ओर लपके । मैं भी सामान सम्हाल कर वहा पहुचा । पाया कि वह दोनो एक रोचक वार्तालाप मे व्यस्त है। इन भारतीय बन्धु ने निरपेक्ष भाव से पूछा, "आप कहा से आये है ?"

यशपालजी ने उत्तर दिया, "भारत की राजधानी दिल्ली से ।"

"क्या करते है ?"

"पत्रकार और लेखक है ।"

"यहा क्या करने आए है ।"

"यो ही घूमने-देखने ।"

"कहा ठहरेंगे ?"

"अभी तो कुछ निश्चय नही ।"

"यहा की भाषा जानते हैं ?"

"नही।"

"तब तो आपको बडी कठिनाई होनेवाली है ।"

यह कहकर वह भारतीय सज्जन मुडे, बोले, "अच्छा, तो मैं जाता हू, मुझे जरूरी काम है ।"

और वह चले गए। हम दोनो ने एक-दूसरे को देखा। और उस विषम स्थिति मे भी खूब हँसे । पास ही वियतनाम की एक युवती विदा के लिए अपनी छोटी बहन का चुम्बन ले रही थी। उस चुम्बन मे इतनी ऊष्मा थी कि उन भारतीय बन्धु की वह निरपेक्षता हमे अधिक पीड़ा न पहुचा सकी । दो क्षण बाद क्या देखते हैं कि एक और भारतीय सैनिक अधिकारी वहा आ पहुचे है। उनका पद ऊचा था। उसी अनु-

पात से भाषा मे शिष्टता थी। प्रणाम के अनन्तर उन्होने पूछा, "आप कहा से आये हैं ?"

"जी, दिल्ली से।"

"कौन है ?"

"पत्रकार, लेखक।"

"यहा घूमने के लिए आये है ?"

"जीहा, घूमने और अध्ययन करने के लिए।"

"किसकी ओर से आये है ?"

"जी, स्वतन्त्र है।"

"कहा ठहरियेगा ?"

"हम तो अभी यहा किसी को जानते नही।"

"भाषा तो जानते होगे ?"

"जी नही।"

वह मुसकराये, "तब तो आप को बडी कठिनाई होनेवाली है।" फिर हाथ जोडे "क्षमा करेंगे। आवश्यक काम है। जा रहा हू।"

और वह भी चले गए।

दृष्टि फिर मिली और वियतनाम की उस युवती की दिशा मे उठी। वह भी जा चुकी थी। अब न कोई सम्बल, न सहारा। कहा जायगे ? परन्तु इतने पर भी हम दोनो न व्यग्र थे, न व्याकुल। तभी देखता हू कि एक कम्बोजी युवक हमारी ओर लपककर आ रहे है। वस्तुत वह हमारे साथ ही सियमरीयप (अकोरवाट) से आये थे। एक बच्चे को लेकर हवाई अड्डे पर उनसे कुछ बातें भी हुई थी। वह शायद देख रहे थे कि दो भारतीय हमसे मिलकर ऐसे विदा हुए हैं जैसे हम कोई अवाछित यात्री हो। पास आकर उस युवक ने अग्रेजी मे कहा, "क्या बात है ? आप कुछ कठिनाई मे है। मैं आपके लिए कुछ कर सकता हू ?"

दृष्टि उठाकर उस युवक को देखा। उस के सौम्य-दर्शन-मुख पर प्यारी-प्यारी मुसकान थी। यशपाल तुरन्त बोले, "दूतावास को लिखा था। शायद पत्र उन्हे मिला नही।" (वास्तव मे पत्र उन्हे बहुत बाद मे मिला)। युवक ने पूछा, "किसी और को जानते है ?"

"जानते तो नही । पर एक सज्जन का पता हमारे पास है । वही जायगे ।"

"तो फिर दीजिए मुझे वह पता । अभी चलते है ।"

उनकी इस आकस्मिक भाव-भगिमा से मैं कुछ अभिभूत-सा हो चला था । चुपचाप वह पता उनके हाथ मे रख दिया । एक क्षण उसे देखकर युवक ने कम्पनी के बस ड्राइवर को बुलाया और कहा, "ये लोग भारत से आये है । इस पते पर जाना है । इन्हे छोडने के बाद कम्पनी के दफ्तर मे जाना होगा ।"

कम्पनी की बसे कम्पनी के दफ्तर ही जाती हैं । वहा से हटकर किसी के घर नही जाती । लेकिन ड्राइवर ने युवक की बात का प्रतिवाद नही किया । बस मे हमारे अतिरिक्त शायद एक यात्री और था । वह युवक ड्राइवर के पास बैठा । बाते होने लगी । मालूम हुआ, वह युवक अपनी पत्नी का तार पाकर यहा आया है । बोला, "न जाने तार क्यो दिया है ? हवाई जहाज से आने को लिखा है ।"

मैंने पूछा, "कारण कुछ नही लिखा ।"

युवक ने कहा, "नही । लेकिन वह अस्पताल मे है ।"

जैसे मेरी वाणी कुछ काप आई, "बीमार हैं क्या ?"

"बीमार तो नही है । बच्चा होनेवाला है । पहला बच्चा है ।"

"ओह ! यह बात है । यह तो सृष्टि का नियम है । चिन्ता मत करो । शायद एक प्यारा-प्यारा बच्चा तुम्हारी राह देख रहा है । हम दोनो की बधाई स्वीकार करें ।"

उसका मुख एक लजीली मुसकान से आलोकित हो उठा । मजिल पास आ रही थी । हम नामपेन के बाजार से गुजर रहे थे । ४ लाख की आबादी का यह शान्त नगर ४ नदियो के सगम पर बसा है । नये विकास के कारण उसका सौंदर्य और भी निखरता आ रहा है । उस दिन आकाश मे बादल थे । कभी-कभी बूदे भी पडने लगती थी । इस कारण वह और भी प्यारा लगा

सहसा उस युवक ने कहा, "लीजिए, हम आगए । वह आपकी दूकान है । जरा अन्दर जाकर देख लीजिए ।"

बस रुकी । हम उतरकर कपडे की उस विशाल दूकान के भीतर चले गए । एक गुजराती महिला से भेंट हुई । पता लगा जिनके नाम पत्र लाये है, उनकी वह पत्नी है । लेकिन पति महोदय कही बाहर गये हुए है । कुछ भी हो, एक ठिकाने पर पहुच गए थे । तुरन्त बाहर आ कर उस युवक मे कहा, "हम ठीक आगए हैं ।"

युवक ने पूछा, "वह सज्जन है ?"

"जी, वह तो नही हैं । उनकी पत्नी है, आप चिन्ता न कीजिए ।"

"नही, नही" उस युवक ने कहा, "उन सज्जन के न होने से आप-को कठिनाई हो सकती है । कही और चले या मैं कुछ प्रबन्ध करू ?"

यशपाल बोले, "अब आप अपनी पत्नी के पास जाइये । आपका बहुत-बहुत धन्यवाद । और हार्दिक शुभकामनाए ।"

वही लजीली मुसकान फिर उसके चेहरे पर फैल गई और नमस्कार करके वह चला गया ।

उसके बाद हम लोग अपने दूतावास के सैकिंड सेक्रेटरी श्री ओम-प्रकाश के पास घर से भी अधिक सुख-सुविधा से रहे । उनकी पत्नी का वह आतिथ्य, राजदूत श्री नायक का सौजन्य, वहा के भारतीय व्यापारियो का स्नेह, सभी कुछ मधुर था । पर उस अज्ञात नाम कम्बोज युवक की वह मानवीयता, उसका स्मरण करके हृदय आज भी तरल हो आता है । टौंजी का वह बर्मी गार्ड, नॉमपेन का यह कम्बोजी अफ-सर, विधाता इन जैसे व्यक्तियो को मानवता की उस मिट्टी से गढता है, जो देश-काल, रग-जाति, धर्म-वर्ण सबके ऊपर है, सबसे परे है । और यही विश्व का श्रेय और प्रेय है ।

: १४ :

महाप्राण निराला : एक संस्मरण

निरालाजी का स्मरण आते ही अक्तूबर १६३६ की सन्ध्या का एक दृश्य सहसा आखो मे उभर आता है। उस वर्ष हिन्दी-साहित्य-

सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन काशी मे हुआ था। सभापति थे सम्पादकाचार्य पडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और स्वागताध्यक्ष महामना पडित मदनमोहन मालवीय। निरालाजी साहित्य परिपद के सभापति थे। उनके अनुरूप ही उनका भाषण भी निराला था जो "राग केदारा" के उल्लेख से आरम्भ हुआ था और तबतक के भापणो मे सबसे सक्षिप्त था। लेकिन सबसे निराली बात हुई उस सन्ध्या को। अचानक बिजली फेल हो गई। दर्शको मे अधिकाश विश्वविद्यालय के विद्यार्थी थे। वे चचल, सदा कुछ-न-कुछ करने को आतुर-व्याकुल रहते है, निश्चित था कि उस अधकार मे कुछ-न-कुछ शरारत हो जाती कि तभी उसके ऊपर होकर एक स्वर वहा गूज उठा

रवि अस्त हुआ ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया राम रावण का अपराजेय समर॥

वह अपराजेय महाप्राण स्वर महाप्राण निराला का था। जबतक प्रकाश लौट नही आया, वही स्वर गूजता रहा। नर का वह ओजस्वी स्वर और 'राम की शक्ति पूजा', उत्तेजित वातावरण स्तब्ध हो रहा। जैसे वहा और कुछ नही था, केवल एक स्वर था, जो सगीत और शक्ति का अद्भुत सम्मिश्रण था।

है अमा निशा उगलता गगन घन अन्धकार
खो रहा दिशा का ज्ञान स्तब्ध है पवन-चार॥

तब वह स्वर ही सत्य था, विधाता था। उसका सशक्त जीवन-दर्शन प्राणो को गुजल मे लपेटे रहा।

फिर पाच वर्ष बीत गए। १९४५ के वसन्त मे अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मण्डल का अधिवेशन दिल्ली मे होना निश्चित हुआ। उसीके अन्तर्गत विशाल कवि-सम्मेलन का भी आयोजन था। निराला के नाम की उन दिनो धूम थी। उनको पत्र लिखा। तुरन्त उनके अपने हाथ का लिखा उत्तर आया

श्री

प्रियवर,

पत्र मिला। मेरा पुरस्कार तो आपको मालूम ही

है। उसके विना नही होगा। अगर भेज सके तो १०-५ दिन से पहले भेजें। तभी आना हो सकता है। राजधानी मे कस्तूरबा फण्ड के लिए उगाहे रुपयो के इतना है। इति। आपका

निराला

कस्तूरबा फण्ड! एक लाख रुपया! अकल्पनीय! साहस करके दो सौ रुपये का ड्राफ्ट भेज दिया। १९४५ मे रुपये की प्रतिष्ठा इतनी नही घटी थी।

तीन-चार दिन बाद क्या देखता हू कि पूछते-पूछते निरालाजी हौजकाजी के पास, गली पीपल महादेव मे, मेरे गरीबखाने पर सशरीर उपस्थित हो गए है। स्वागत-समिति का कार्यालय वही पर था। मुझे जैसे स्वर्ग मिलता है। आत्मविभोर उनके सामने आता हू। वही विशालकाय भव्य रूप, रेशमी कुर्त्ता, तहमद, लम्बे बाल, हाथ मे दण्ड, आखें ऐसी जैसे किसी दूसरे लोक मे पहुच गए हो। मैंने प्रणाम किया। सहसा दण्ड उठाकर क्रुद्ध कम्पित स्वर मे हुकार उठे, "मुझको तुमने पैसे भेजे थे ?"

"जी, जीहा।"

"तुमने मेरा अपमान किया है।"

विस्मत-विमूढ, स्तब्ध हो रहता हू। मुखम्लान हो जाता है, हृदय की धडकन तीव्र होती है और वह हैं कि आखे रक्तवर्ण किये बोले जा रहे है, "तुमने मेरी कीमत आकी ? तुमने मेरा विश्वास नही किया ?"

कवि सम्मेलन के मन्त्री भाई गोपालप्रसाद व्यास आये पण्डित दीनानाथ दिनेश आये, लेकिन अजस्र प्रवाह की तीव्रता मे रचमात्र भी अन्तर नही पड रहा। नेत्रो से रक्तिम चिगारिया उड रही है। उस विशालकाय के सामने हम तीनो पिद्दी से भयातुर, कम्पित, किंकर्तव्य-विमूढ से खडे रह गए हैं। किसी तरह साहस बटोरकर मैं उनके साथी की ओर मुडा। पूछा, "आखिर बात क्या है ?"

साथी शरारत से मुस्कराये। बोले, "आपने इन्हे ड्राफ्ट से रुपया भेजा, मनीआर्डर से नही, इसलिए नाराज है।"

निरालाजी चीख उठे, "तुमने मुझे सरकार की मार्फत रुपया भेजा, मुझे बैंक जाना पडा।"

प्राण मुक्त हुए। स्थिति सुलझी। विनम्र स्वर मे मैंने निवेदन किया, "आपको ड्राफ्ट से रुपया इसलिए भेजा था कि मिलने मे सुविधा हो। मनीआर्डर कभी-कभी गलत व्यक्ति को दे दिया जाता है। बाद मे बहुत झझट होता है।"

वह बोले, "तुमने मेरी कीमत दो सौ रुपये आकी ?"

व्यासजी ने कहा, "आपकी कीमत कौन आक सकता है ? ये तो किराये-भाडे के लिए भेज दिए थे।"

सुनकर एक क्षण मौन हमे स्थिर दृष्टि से आकते रहे, बहुत कुछ कह दिया उस दृष्टि ने। फिर धीर-गम्भीर स्वर मे बोले, "हु ।" "अच्छा, मेरे ठहरने का प्रबन्ध कहा किया है ?"

तनाव दूर हो चुका था और आखें तरल हो आई थी। समुचित उत्तर पाकर वह अपने ठहरने के स्थान पर चले गए। फिर उस सम्मेलन मे उन्हे नाना रूपो मे देखा। प्रात कालीन साहित्य गोष्ठी मे वह अधिकतर मस्ती मे चुहुलबाजी करते रहे। समाप्त होने पर बोले, "सन्ध्या को कवि-सम्मेलन का क्या कार्यक्रम है ?"

मैंने कहा, "आज के कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता श्रीमती सरस्वती देवी डालमिया ।"

मैं अपना वाक्य पूरा कर पाता कि एकाएक ज्वालामुखी भभक उठा, "यह मेरा अपमान है। वह कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता करे और मैं कविता पढू ? क्या समझा है आपने निराला को ?"

फिर वज्रपात। काप उठा, पर तुरन्त हाथ जोडकर निवेदन किया, "नही-नही, आप क्यो पढेगे कविता। मुख्य कवि सम्मेलन तो कल है और आप उसके अध्यक्ष हैं।"

व्यासजी बोले, "आपको तो आज आना ही नही था। यह तो आपकी कृपा है ।"

और फिर उन्होने सम्मेलन के अध्यक्ष श्रीयुत श्रीनारायण चतुर्वेदी की ओर देखा। आखो-ही-आखो मे प्रार्थना की। सहज भाव से हँसते

हुए चतुर्वेदीजी ने निरालाजी का हाथ पकड लिया। बोले, "आओ निरालाजी, हम तो चले। इन छोकरो को अपना काम करने दो।"

और सचमुच उस दिन वह कवि-सम्मेलन मे नही आये। लाज रह गई। अगले दिन का वह कवि-सम्मेलन दिल्ली के इतिहास मे अनेक कारणो से चिरस्मरणीय हो गया है। इतना बडा कवि-सम्मेलन उससे पहले शायद ही कभी हुआ हो। गाधी मैदान मे जो विशाल मण्डप बनाया गया था वह खचाखच भरा हुआ था। मच पर खडीबोली, ब्रज और बुन्देलखण्डी के अनेक प्रसिद्ध और नवोदित कवियो के बीच मे निराला जी नक्षत्र मण्डल मे सूर्य के समान विराजमान थे। उनकी वह सुन्दर काया और वह अलबेला रूपाकर्षण का मानो केन्द्रबिन्दु बन गए थे। पहले दिन वह जितने उत्तेजित थे, उस दिन उतने ही सौम्य और शान्त थे। आज भी याद है, निरालाजी पुकारते और एक के बाद एक कवि उठता। हवा मे तैरता हुआ उनका ओजस्वी मधुर स्वर अपार जनसमूह को आलोडित कर देता। उर्दू के गढ मे हिन्दी की यह पहली उल्लेखनीय प्राणप्रतिष्ठा थी। जहातक याद आता है, इसी सम्मेलन मे बेधडकजी ने पहली बार हिन्दी मे रुबाइया पढी थी। जनता गद्गद् हो उठी और निरालाजी तो जैसे आत्म-विभोर हो रहे हो। तुरन्त जेब मे हाथ डाला। तीस-बत्तीस रुपये अभी शेष थे। उन्ही को बेधडकजी की तरफ बढाते हुए बोले, "आपने हमे प्रसन्न कर दिया। यह लो।"

उस रात्रि का वह अद्भुत दृश्य अब भी आखो मे उभर-उभर आता है। हर्ष से आलोडित जनसमूह से भरा वह विशाल पण्डाल कवियो के बीच मे मच पर बैठे हुए निरालाजी, हाथ मे नोट लिये बेधडकजी की ओर देख रहे है और बेधडकजी अपने स्थान की ओर जाते हुए जनता के बीच मे ठिठके खडे हैं। हाथ जोडकर कह रहे हैं, "निरालाजी, आपकी कृपा है, यह रहने दीजिए।"

निरालाजी का हाथ हिलता है। दृढ उत्तेजित स्वर मे कहते है, "यह हमारा आदेश है, लेने होगे। हमारे पास इतने ही है, और भी होते तो दे डालते। तुमने मन प्रसन्न कर दिया।"

शब्द और हो सकते है, पर अर्थ यही था। विवश, बेधडकजी को नतमस्तक होना पडा।

उसी दिन की एक और घटना याद आती है। किसी बन्धु की किसी असावधानी पर कानपुर के श्री जगदम्बा प्रसाद हितैषी और आगरा के श्री अमृतलाल चतुर्वेदी अप्रसन्न हो गए। कवि-सम्मेलन मे नही आये। पता लगने पर मैं तुरन्त उनके पास गया। सयुक्त मन्त्री जो था। बन्धु के अपराध की क्षमा चाही और प्रार्थना की कि वे सम्मेलन मे पधारे। मान लू गा कि वे दोनो उदार थे। साथ-साथ हम लोग पण्डाल मे आये। अपार जनसमूह के बीच मे होकर जब वे दोनो कवि मच के पास पहुचे तो निरालाजी ने हाथ जोडकर उनका स्वागत किया और चतुर्वेदीजी से कहा, "सर्वप्रथम आप ही कविता पाठ करे।"

चतुर्वेदीजी गद्‌गद् हो उठे। उनका वह सुमधुर कण्ठ और ब्रज भाषा। बहुत देर तक पण्डाल मे माधुर्य बरसता रहा। उसके बाद मानव हृदय के पारखी निराला हितैषीजी की ओर मुडे। लेकिन हितैषीजी को नही मानना था, नही माने। निरालाजी ने फिर निवेदन किया। वह नही माने। तीसरी बार चरण छूकर प्रार्थना की, वह फिर भी नही माने। हम लोग भय से काप उठे कि अब निरालाजी भभक उठेंगे। ज्वालामुखी तो परम शान्त था। शान्त स्वर मे वह बोले, "अब आपकी इच्छा है। हम तो तीन बार कह चुके।"

जिस समय वह स्वय कविता पढने खडे हुए, जनता ने जोर से करतल-ध्वनि की और वह ओजस्वी स्वर फूट पडा उद्दाम वेग से। 'जुही की कली,' 'जयसिंह के नाम शिवाजी का पत्र,' 'राम की शक्ति पूजा,' 'कुकुरमुत्ता,' और 'वह तोडती पत्थर' आदि आदि कविताए वह एक के बाद एक पढते चले गए। जनता जैसे मूर्तिवत हो रही हो।

सर्वप्रथम मुखरित हुआ मधुर मादक श्रृगार
विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सोहाग भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न

अमल कोमल तनु तरुणी-जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल पत्राक में
वासन्ती निशा थी ।

और फिर 'राम की शक्ति पूजा' का वह ओजपूर्ण विषाद .

लौटे युग दल । राक्षस पद तल पृथ्वी तल मल
विन्ध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल ।

और यह कुकुरमुत्ता । विद्रोह का जीवन्त स्वर

अबे, सुन बे गुलाब
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगोआब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपीटिलिस्ट ।
कितनों को बनाया है तूने गुलाम
माली कर रखा सहाया जाड़ा घाम

और विवशता की मूर्ति

वह तोडती पत्थर
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
वह तोडती पत्थर ।
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,
श्याम तन, भर बधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार बार प्रहार—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार—

जब सबकुछ स्थिर हो गया, गूजता रहा केवल एक नाद स्वर । इसी नाद स्वर द्वारा योगी-जन ब्रह्म की उपासना करते हैं । तन्मयता ही तो समाधि है और जब मनुष्य आत्मविभोर होता है तो अन्तर की कलुषिता धुल-पुछ जाती है । बहुत से कवि वहा उपस्थित थे । उनमे से बहुत-सी कविताए आज भी याद कर सकता हू । पर निरालाजी

सबसे निराले थे। अपनी दुर्बलताओं के बावजूद जैसे मन प्राण में बस गए हो।

सम्मेलन के बाद जब वह इलाहाबाद लौट रहे थे तब की एक छोटी-सी घटना का स्मरण और आता है। सैकिण्ड क्लास के डिब्बे मे जिस स्थान पर वह बैठे, वहा पहले कोई युवक बैठा था। आज की तरह तब भी यौवन उद्धत ही होता था। लौटकर उसने बडी अशिष्टता-पूर्वक निरालाजी को उठाना चाहा। वह अपनी मस्ती मे बैठे थे। स्थान भी काफी था। युवक कही और बैठ सकता था, लेकिन फिर तो वह वृद्ध हो रहता। अड गया, निरालाजी को उठना होगा। कुछ अपशब्द भी कहे और आक्रमण की मुद्रा मे आ गया। निरालाजी वैसे ही मुस्कराते रहे। फिर हाथ बढाकर उसके गले के पास से कमीज पकड ली और उसको वही स्थिर कर दिया। युवक के क्रोध का पारावार न था, लेकिन सारी शक्ति लगाकर भी वह निरालाजी का हाथ हिला तक न सका, जैसे वह अगद का पैर बन गया हो। निरालाजी मुस्कराते रहे, युवक उनके हाथ को नोचता रहा, कुर्ते को फाडता रहा और अपने असहाय क्रोध से स्वय ही पसीना-पसीना होता रहा। कई क्षण के इस अनोखे द्वन्द्व-युद्ध के बाद निरालाजी ने उसे छोड दिया और बडे प्यार से कहा, "बैठ जाओ, बेटा।"

निरालाजी मे ओज और सगीत दोनो का अद्भुत सम्मिश्रण था और उनके प्रत्येक कार्य मे इन दोनो गुणो की मात्रा घटती-बढती रहती थी। साहित्य-स्रष्टा की अहमन्यता को सहज कहकर स्वीकार किया जा सकता है। कवि, पागल और प्रेमी, ये प्राय समानधर्मा ही तो हैं। लेकिन मात्रा और सीमा का प्रश्न फिर भी रहता है। निराला मे सीमा नही थी। थी अन्तर मे दबी पडी एक दुर्बलता कि मैं जिस योग्य हू, वैसा न तो मेरा सम्मान होता है और न मूल्याकन। सैकडो वर्ष पूर्व भवभूति के साथ क्या हुआ, यह ठीक नही मालूम, लेकिन जहा तक निराला का सम्बन्ध है उपचेतना मे बसी हुई मानव की शत्रु यह दुर्बलता उस विशाल को निर्बल कर देती थी। कहूगा उनकी तथाकथित विक्षिप्तता का कारण भी यही थी। दुःख यही है कि उनके तथाकथित

मित्रों और भक्तो ने सदा इस दुर्बलता को सहलाया, उत्तेजित किया और अन्तत उनको निस्तेज करने मे बहुत कुछ सफल भी हो गए।

इस स्वार्थमय ससार मे जाने-अनजाने अनेक तेज पुजो को ऐसे ही मित्र मिले है। जो उनके जाल से मुक्त हुआ वह मोती हो गया, शेष योगभ्रष्ट बोधिसत्व होकर रह गए। निराला इसी श्रेणी के नरपुगव थे। वह औघडदानी थे। उन्होने कभी अपना गर्वोन्नत मस्तक नही झुकाया, पर उनके भीतर जो तीव्र निपेध था, उसकी नीव इसी दुर्बलता पर थी, इसीलिए वह सहज न हो पाए, भीतर-ही-भीतर टूट गए।

: १५ :

पण्डितजी

पण्डितजी को गाधीजी से जितनी घृणा थी, खद्दर, हरिजन और रामनाम से उतना ही प्रेम था। प्रतिदिन सबेरे वह रामचरित मानस का हारमोनियम पर सस्वर पाठ करते थे और सप्ताह मे एक दिन हरिजन-निवास जाकर साबुन बाटते थे। मोटे खद्दर की कमीज और चुन्नटदार धोती, यह उनकी पोशाक थी। और उनकी बड़ी-बडी आखे सदा निराशा, क्रोध और अभिमान से उबलती रहती थी। उनकी त्वचा का रग अब तप गया था और कर्जन-कट मूछें खिचडी हो चली थी।

१६२० मे ही उन्होने सरकारी नौकरी को लात मार दी थी और जब भरी जवानी मे उनकी पत्नी चल बसी तो फिर उन्होने विवाह भी नही किया। उन्हे विश्वास था कि ऐसा करके उन्होने देश के लिए अपूर्व त्याग किया है, परन्तु एहसान-फरामोश काग्रेस ने उनके इस दावे को स्वीकार नही किया। उसने उनकी महत्त्वाकाक्षाओ की हत्या कर दी और उनका अन्तर्मन तिक्त कटुता से भर उठा।

मेरे एक दीवार के पडोसी थे। वास्तव मे मै उन्हीके मकान मे

रहता था । जैसे ही मैं सवेरे लिखना शुरू करता, वह हारमोनियम पर 'सियावर रामचन्द्र पद जय शरणम्' का राग अलापना आरम्भ कर देते । स्वर सुरीला होता तो सगीत का लोभी मेरा मन उस अत्याचार को सह जाता, परन्तु उनका विश्वास था कि भगवान केवल भाव के भूखे है, स्वर की चिन्ता नही करते । भगवान भगवान है, मैं उनके समकक्ष होने की स्पर्धा नही कर सकता, इसलिए मुझे कई बार उन्हे युद्ध की चुनौती देनी पडी । वह फिर भी नही माने और एक दिन नियमित वाग्युद्ध के बाद मैंने तीव्र होकर उनसे कहा, "मैं आपसे बोलना तक नही चाहता ।"

वह बोले, "तो मै ही कब चाहता हू । अब कभी नही बोलूगा, कभी भी नही ।"

लेकिन तीसरे ही दिन पाता हू कि छत पर से झाक कर वह मुझे पुकार रहे हैं, "बावू विष्णु, इधर सुनो ।"

मैं तुरन्त भाप गया कि यह किसी विस्फोट की भूमिका है । एकाएक निर्णय न कर सका कि वोलू या न बोलू कि वह फिर बोल उठे, "भगवान मेरा जाने, गाधी और नेहरू दोनो गद्दार है ।"

उनके स्वर मे असीम कडवाहट थी । वह क्रोध से काप रहे थे । मैं जान बूझकर मुस्कराया । पूछा, "क्या बात हुई ?"

"बात क्या होती, जब देखो च्यागकाई शेक की तारीफ करते हैं । वह अव्वल नम्बर का शैतान और अग्रेजो का आदमी है । मैं कहता हू, भगवान मेरा जाने, यह गाधी और नेहरू, ये दोनो ही अग्रेजो के जासूस हैं । असल मे अग्रेज चाणक्य है । पहले इन्होने धर्म को विगाडा । दयानन्द इन्ही का दूत था । हिन्दू धर्म का वह नाश किया कि पुनरुद्धार की कोई आशा नही । अब राजनीति को भ्रष्ट करने के लिए गाधी को भेजा है । भगवान मेरा जाने, मैं सच कहता हू, लन्दन मे बैठा चर्चिल मेरे बारे मे जानता है । यहा तक जानता है कि इस समय पण्डितजी बावू विष्णु को हमारी असलियत समझा रहे है ।"

और फिर सदा की भाति वह आध घण्टा तक धारा प्रवाह वोलते रहे । वह मानते थे कि मै उनका किरायेदार हू, मुझे उनकी बातें सुननी

ही चाहिए । जब थक गए तो पूछा, "हा, तुम्हारी क्या राय है ? गाधी को तुम अब भी महात्मा मानते हो ।"

उनके प्रलाप को मैंने कभी गम्भीरता से नही लिया । इसलिए उनसे प्रश्न का उत्तर न दे सका । वह क्रोध से पागल हो उठे । उनकी बडी-बडी आखे फिर दहक आईं । बोले, "तुम्हे बातें करने की तमीज नही है । एक शरीफ आदमी तुम्हारे पास आकर तुमसे प्रश्न करता है और तुम उत्तर भी नही देना चाहते । मै नही समझता था कि तुम इतने असस्कृत हो, नही तो ।"

"नही तो ?" मैंने एकाएक क्रुद्ध होकर पूछा ।

लेकिन तबतक वह जीना उतर चुके थे । केवल पृथ्वी पर जो पदाघात हुआ था, वही वायुमण्डल मे गूज रहा था । मैंने क्रुद्ध कम्पित स्वर मे, मानो उन्हे सुनाकर कहा, "नही तो मकान मे नही रहने देता, यही न ? रहना ही कौन चाहता है ! मै कल ही यह मकान छोड दूगा ।"

मन अत्यन्त बोझिल हो आया । लेकिन कल तो काल का प्रतीक है । और काल है निरवधि । वह कल आने के पूर्व ही एक दिन एक ऐसी घटना हो गई कि जिसके कारण सारी परिस्थिति बदल गई । उस दिन मेरे एक सम्बन्धी के घर पर मित्र-भोज था । जब वहा से लौटा तो रात का एक बज चुका था । तुरन्त सोने के लिए लेट गया, मानो आखो मे युग-युग की नीद भरी हो । लेकिन पलक झपकी ही थी कि सुना कोई पुकार रहा है, "बाबू विष्णुदत्त, बाबू विष्णुदत्त !"

अवश्य ही पण्डितजी है । इनका सर्वनाश हो, सोने भी नही देते । पुकारे जाओ, मैं नही आऊगा, नही आऊगा ।

स्वर फिर गूजा, "सुनते नही, बाबू साहब नीचे आइये ।"

यह तो पण्डितजी नही है । निमिष मात्र मे आखें मलकर उठ बैठता हू । देखता हू, काफी अधेरा है । आसमान मे तारे जगमगा रहे हैं और नीचे ठीक मेरे घर के सामने दो दर्जन पुलिस वाले खडे है ।

सबकुछ समझ गया । परसो ही स्थानीय सी० आई० डी० वाला कह गया था, "तलाशी आने वाली है, बाबूसाहब ।" सो वह आ गई

है। सौभाग्य से घर मे छोटे भाई के अतिरिक्त उस समय और कोई नही था। दोनो को बाहर निकालकर पुलिस इन्स्पेक्टर ने द्वार पर ताला लगा दिया। कही और जाना था, इसलिए छ सिपाही और एक हवलदार को छोडकर वे चले गए। ये लोग मुझे घेर कर बैठ गए। तभी मैंने देखा कि मौहल्ले मे हलचल पैदा हो गई है। सभी अचरज, भय और आशका से जैसे हतप्रभ रह गए हो। धडकते हृदय से किवाडो के बीच से झाकते है और फिर एक झटके के साथ पीछे हट जाते हैं। शायद वे सोच रहे हैं कि बाबू विष्णु ने गबन किया है या डाका डाला है या शायद क्रान्तिकारी है। तरह-तरह के लोग इसके पास आते हैं • ।

कई क्षण इसी उलझन मे बीत गए। फिर गली मे आवागमन होने लगा। मैं उन सबको जानता था। उनमे कई मित्र थे। पर उस क्षण जैसे मैं उन सबकी दृष्टि मे अपराधी हो उठा। कुछ ने मेरे पास आते-आते अपनी आखो पर अपरिचय का आवरण डाल लिया। कुछ हवलदार साहब की ओर मुडे और झुक कर बोले, "आदाबअर्ज है हवलदार साहब, वन्दगी हुजूर।"

पुलिस की जिस पर कृपा हो वह सभ्य नागरिको की घृणा का पात्र ही हो सकता है। परन्तु उसी समय मेरे कानो मे एक चिर-परिचित स्वर गूज उठा। कौतूहल से आखे उठाकर देखता हू कि छडी घुमाते और पदाघात से वातावरण को कम्पित करते हुए पण्डितजी सैर से लौट आए है। वही मोटे खद्दर की कमीज, वही मोटी चुन्नटदार धोती और वही आखो से झरती अभिमान भरी शाश्वत चुनौती। इस बार मैंने चाहा कि आखें वन्द करलू। पर वह पुकार उठे, "अरे विष्णु-बाबू, यह क्या ?"

मैंने वरबस मुस्कराकर कहा, "मेरी तलाशी होगी।"

"तुम्हारी तलाशी ! क्या कहते हो ?"

बस अब अग्नि प्रज्वलित हो उठी। हवलदार की ओर मुडकर बोले, "क्या बात है ? क्यो तलाशी लेते हो ? ये तो सरकारी नौकर है, तुम्हारे भाई। "

फिर सहसा रुके। पूछा, "कोई महकमे का झगडा है या राजनीति

का है ?"

हवलदार ने सहजभाव से कहा, "कोई सयासी मामला है ।"

"तो फिर मेरी तलाशी लो । मैं पच्चीस साल से विद्रोही हू । मेरी ओर कोई उगली भी नही उठाता । भगवान मेरा जाने, सरकार कैसी विचित्र है, जो उसका सिर फोडते है, उनसे वह कापती है और जो उसकी गुलामी करते है उनको वह सताती है ।"

हवलदार अब भी क्रुद्ध नही हुआ । धीरे-से बोला, "लाला साहव, हम तो हुक्म के वन्दे है । सरकार ने कहा, चले आए । हमे कुछ नही मालूम ।"

"भगवान मेरा जाने, तुम्हारा कोई अपराध नही है । तुम तो गुलाम हो ।"

जैसे सहसा धक्का लगा हो । तीव्र होकर बोले, "लेकिन तुम गुलाम क्यो बने ? क्या तुम नही जानते कि गुलामी सबसे बडा पाप है ?"

और मुड़कर मुझसे कहा, "खडे हो जाओ । क्या तुमने किसीकी हत्या की है, डाका डाला है ? उठो, शौचादि जाओ । मै तबतक दूध गर्म करता हू ।"

मैंने नम्रता से कहा, "पण्डितजी, मैं यही ठीक हू । आप चिन्ता न करें ।"

पण्डितजी तिलमिला उठे, "तुम बुजदिल हो ।"

मुझे क्रोध नही आया, हँसी आई । पूर्वत. कहा, "नियम-विधान जो है, उनकी अवहेलना करना ठीक नही ।"

वह वोले, "जो नियम का दास है, वही कायर है । भगवान मेरा जाने, नियम के नाम पर ये चालीस करोड इन्सान कैसे कुत्तो की तरह अग्रेजो के तलुवे चाटते है ।"

और फिर एकबार हवलदार की ओर मुडे, "देखो जी, तुमने जो लाल पगडी बाधी है, वह क्रान्ति का रग है और तुम हो कि सफेद चमडी देखते ही ठण्डे पड जाते हो । "

तभी शेष लोग लौट आए । जब तलाशी का काम शुरू हो गया

तो पण्डितजी चुपचाप ऊपर चले गए और तन्मय होकर रामायण का पाठ करने लगे। उधर थानेदार ने मेरी चूरन की शीशियो मे बम्ब बनाने का मसाला ढूढना आरम्भ कर दिया। जब उन्होंने मजन को चख कर देखा तो मैं अपनी हँसी न रोक सका। वह बोले "हँसिये नही, क्रान्तिकारी लोग पोटास का मजन किया करते हैं।"

उन्होने आटा, दाल, घी, तेल, सभी की परीक्षा की। लकडियो के ढेर मे पूरे एक घण्टे तक उलझे रहे। लाइब्रेरी मे पहुचे तो एक के बाद एक अलमारी और दराज खोल डाली और पुराने टिकटो तथा पत्रो मे क्रान्ति का घोषणा-पत्र ढूढने लगे। वही सहसा मेरी डायरी हाथ लग गई। उसे खोलते न खोलते वह लगभग चिल्ला कर अपने साथी से बोले, "आखिर पकडे गए। देखो, यह क्या लिखा है।"

साथी जोर से पढने लगे, "भगतसिह को आज फासी पर लटका दिया गया, इत्यादि।" पढ चुके तो एक क्षण कुछ सोचा। फिर कहा, "केवल समाचार है, कुछ नही बन सकता।"

थानेदार हताश नही हुए। पूछा, "तुम्हारे पास चाद का फासी अक है ?"

"जी नही।"

"पण्डितजी के पास होगा ? वे क्रान्तिकारी है और तुम्हारे मित्र भी।"

मेरा चेहरा तमतमा आया। कहा, "सुन नही रहे, रामायण का पाठ कर रहे है। क्रान्तिकारी क्या ऐसे होते है ?"

"बिल्कुल ऐसे ही।" थानेदार मुस्कराकर बोले, "मेरे कई क्रान्तिकारी मित्र मन्दिर मे पूजा किया करते हैं। आप भी तो आर्यसमाजी है।"

फिर एकाएक पूछा, "यशपाल को जानते हो ? क्रान्तिकारी यशपाल, जो लेखक भी हैं। आप तो ऐसे देख रहे है जैसे नाम भी न सुना हो और यह पैड उनका यहा पडा है। इस बार शायद भूल गए।"

उनके हाथ मे सचमुच एक लैटरपैड था। मुझे उन पर दया आई। मुस्कराकर कहा, "यह तो यशपाल जैन का पैड है। यह मेरे मित्र है और दिल्ली मे रहते है।"

क्षण भर के लिए उनका मुख जैसे धूमिल हो उठा। लेकिन पराजित होना उन्होंने नही सीखा था। छत पर जा पहुचे। झाक कर पण्डितजी को देखा। पाठ बन्द हो चुका था और वह रसोईघर मे थे। बोले, "बिल्कुल अकेले है। क्रान्ति करने की पूरी तैयारी है।"

मैंने कहा, "इनके पिता जिलेदार थे और चाचा थानेदार।"

थानेदार हँस पडे, "इसी कारण तो बचे हुए है और अब आप भी बच गए। सोचता हू कि जब आप कानून की पकड मे नही आते तो व्यर्थ ही क्यो कष्ट दिया जाय।"

फिर मुस्कराकर धीरे से बोले, "मैं भी तो आर्यसमाजी हू। लीजिये हस्ताक्षर कर दीजिए। लेकिन पण्डितजी का ध्यान रखिए।"

मैं बोला, "आप क्या कह रहे हैं? मैं तो उन्हे पागल समझता हू।"

वह हँस पडे, "पागल ही तो क्रान्ति किया करते हैं। उन्हे डर नही होता।"

और वे चले गए। मैं अस्त-व्यस्त घर मे बैठ कर सोचने लगा कि पडितजी मेरी दृष्टि मे पागल हैं, पुलिस की दृष्टि मे क्रान्तिकारी। लेकिन क्या प्रलाप करना ही क्रान्ति है? कभी धर्म, कभी राजनीति, कभी साहित्य। अभी उस दिन रामचरितमानस मे 'ण' के स्थान पर 'न' और 'श' के स्थान पर 'स' के प्रयोग को लेकर कितने उत्तेजित हो उठे थे। "भगवान मेरा जाने, हिन्दी भाषा की यही दो विशेषताए है और इन्ही को हिन्दी वाले मिटाने पर तुले हुए है। अग्रेजो के गुलाम अपनी भाषा और सस्कृति, सबको भ्रष्ट कर रहे है।"

तभी देखता हू कि पण्डितजी स्वय वहा आ खडे हुए है। उनकी आखो मे दीप्ति है और मुख पर गर्वीली मुस्कान। बोले, "भई, ऐसे क्यो बैठे हो? उठो, मैंने खीर बनाई है। भगवान मेरा जाने, आज मैं बहुत प्रसन्न हूं। अब यहा दो क्रान्तिकारी रहते है।"

कहते-कहते वह हँसे, "दो क्रान्तिकारी! साले जानते नही, अब भारत का बच्चा-बच्चा क्रान्तिकारी बनेगा। उन्हे खुद क्रान्तिकारी बनना होगा। भगवान मेरा जाने, बाबू विष्णु, ये पुलिस वाले साले बम्ब बनाने और डाका डालने वालो को ही क्रान्तिकारी समझते हैं।

सच्चा क्रान्तिकारी वह है, जिसने डर को जीत लिया है, जो अन्याय के सामने झुकने से इन्कार कर देता है। मुझे खुशी है कि तुम नही डरे।"

फिर सदा की भाति पण्डितजी क्रान्तिकारी की न समाप्त होने वाली व्याख्या करने मे प्रवृत्त हो गए। परन्तु उस दिन मैं उनका तनिक भी विरोध न कर सका। तब भी नही कर सका जब उन्होने कहा, "अरे भाई, तुमने देखा, इस बार तो जवाहरलाल ने कुछ समझ की बात कही है।"

मैं हँस कर बोला, "सच ?"

"हा, भगवान मेरा जाने, मैंने इस बार बहुत लम्बा पत्र लिखा था और उसने अपना नया वक्तव्य उसी के आधार पर दिया है। वाक्य-के-वाक्य मेरे हैं।"

विस्मित-विमूढ, मैंने दृष्टि उठाई। पाया कि उनकी आखें विजय-गर्व से चमकने लगी है। उस गर्व को खण्डित करने का साहस मैं कैसे कर सकता था ?

मेरी दृष्टि झुक गई।

· १६

थाईलैण्ड के शर्माजी

स्वस्थ शरीर, लम्बा कद, श्वेत केश, गौर वर्ण, खद्दर के लम्बे कुर्ते और चूडीदार से मडित पडित रघुनाथ शर्मा उन व्यक्तियो मे से हैं जो प्रथम और अन्तिम दर्शन मे एक जैसा प्रभाव छोडते हैं। सौम्य शान्त और सहज मुस्कान से आलोकित उनके नयन अजनबी से सदा यही कहते जान पडते हैं, "अब कोई डर नही, आप अपने घर मे आ गए हैं।"

शर्माजी पजाबी हैं और उनके सुदृढ शरीर पर आजाद हिन्द फौज की वर्दी हो या खद्दर की शेरवानी और चूडीदार—सभी पोशाकें फबती है। सन १६२२ से वह थाईलैण्ड मे कपडे का व्यापार कर रहे हैं

और वहा के भारतीयो के राजनैतिक, सास्कृतिक तथा सामाजिक जीवन के एक सुदृढ स्तम्भ है। वह इण्डियन नेशनल कौंसिल के प्रमुख थे। आजाद हिन्द फौज की थाई शाखा के अर्थमन्त्री थे। वह 'थाई भारत कल्चरल लॉज' के प्राण हैं। सच तो यह है कि वह थाईलैण्ड मे भारत के सच्चे सास्कृतिक राजदूत हैं।

बैंकाक पहुचने से पूर्व उनकी प्रशसा सुन चुके थे। उसीके आधार पर यशपालजी ने उनको पत्र भी लिखा। उत्तर भी पाया, कुछ आश्वस्त भी हुए, परन्तु यह कल्पना करने का कोई कारण नही मिला था कि हम अपने ही घर जा रहे है। पहुचने पर भी न कोई उद्वेग, न उफान, पर जैसे हृदय ने हृदय को परख-पहचान लिया हो। थाईलैण्ड के लिए कुल २४ घण्टे का वीसा (प्रवेश-पत्र) ले कर चले थे। बैंकाक के हवाई अड्डे पर १६ टिकल देने पर वह तीन दिन का हो गया। पर जब शर्माजी ने सुना तो तुरन्त बोले

"यह कैसे हो सकता है ? इतनी दूर आकर ऐमरल्ड बुद्ध का मन्दिर नही देखेंगे ! उसीको देखने के लिए तो दुनिया यहा आती है।"

यशपालजी ने उत्तर दिया, "देखना तो चाहते है, पर सुना है, वह तो इतवार को ही खुलता है।"

शर्माजी ने मुस्कराकर कहा, "जीहा, आप तबतक रहेगे। वीसा बढ जाएगा, चिन्ता मत कीजिए।"

वीसा कैसे बढा, क्या-क्या कठिनाइया आई, उनकी चर्चा यहा असगत है। पर वीसा बढा और शर्माजी ने स्वय घूम-घूमकर हम दोनो को वह दुर्ग-जितना विशाल, तपोवन-जैसा शात और पवित्र, किसी कलाकृति जैसा सुन्दर और वैभवशाली मन्दिर दिखाया। अन्दर जाते समय सहसा एक कर्मचारी ने रोक लिया। यशपालजी के पास कैमरा था। बोला, "कैमरा ले जाना चाहते हो तो ५ टिकल (लगभग सवा रुपया) दो।"

यशपालजी कैमरा वहीं रखकर जाने वाले थे कि शर्माजी बोल उठे, "क्या करते हो ! अन्दर बडी सुन्दर चीजें है। वहा कैमरे का अभाव खटकेगा।" और उन्होंने पाच टिकल निकाल कर दे दिए।

उनकी ही बात ठीक निकली। अध्यात्म और वैभव के उस समन्वय को देखकर मन का कलुष जैसे धुल-पुछ गया हो। वैभव के बीच मे शान्ति का अखण्ड साम्राज्य था। आर्य और बौद्ध दोनो सस्कृतिया जैसे वहा आलिगन-बद्ध मुस्करा रही हो। तथागत के उस विश्व-विख्यात मन्दिर की एक मील लम्बी प्रकोष्ठ की दीवारो पर पूरी रामायण विशाल चित्रो मे जैसे जी उठी हो। कहानी और कला, दोनो पर स्यामी प्रभाव है, पर राम और बुद्ध के अपने देश मे तो ऐसे दृश्य ही दुर्लभ हैं।

वह उस समन्वय की व्याख्या करते नही थकते थे। बाजार मे घूमते समय भी उनका ध्यान इसी समन्वय की खोज मे रहता था। सहसा रुक जाते, कहते, "यह देखो दर्जी की दूकान, इसका नाम है 'शिल्प'। वह है दूसरी दूकान, उसका नाम है 'रत्नजय' और उस तीसरी दूकान पर लिखा है 'कीरति-नियम'। और उधर देखिये, वह किसानो का बैंक है, परन्तु उसका नाम है 'कृषिकर धनागार'। भारत मे इस प्रकार के नाम है क्या ?"

कुछ और आगे बढे। पार्क मे सगीत का आयोजन था। उसे देखकर कहने लगे, "भारत का कितना प्रभाव है, काष्ठ तरग, बासुरी, करताल और वही ढोलक-मृदग-जैसे वाद्य यन्त्र, सब वही तो है, आलाप भी वही है।"

दिन मे भोजन के समय उन्होने कहा था, "हम लोग भारतीय सस्कृति के विषय मे बात तो बहुत करते हैं, लेकिन उसकी रक्षा करने मे समर्थ नही है, इस देश मे देखिए, पश्चिम के प्रबल प्रभाव के बावजूद वह आज भी किस प्रकार सुरक्षित है। यहा की भाषा मे ८० प्रतिशत शब्द सस्कृत के हैं। हा, उच्चारण थोडा भिन्न है। रामायण का प्रभाव तो इतना है कि यहा के राजा 'राम' के नाम से ही सम्बोधित होते है। इस समय उन्होने थाईलैण्ड के एक राजा की सुन्दर प्रभावशाली प्रतिमा की ओर हमारा ध्यान खीचते हुए कहा, "यह राम प्रथम की मूर्ति है।"

शर्माजी स्वय इस समन्वय के मूर्तिमान प्रतीक है। 'थाई-भारत

'कल्चरल लॉज' का उद्देश्य यही समन्वय है। इस सस्था के सस्थापक स्वामी सत्यानन्दजी महाराज उन विभूतियो मे से थे, जिन्होने भारत और थाईलैण्ड की समान सस्कृति को जैसे खोज निकाला था, जैसे दोनो को वह फिर से एक करने को आतुर हो उठे थे। इसी उद्देश्य मे उन्होने इस सस्था की स्थापना की थी। परन्तु १९४२ मे एक हवाई दुर्घटना मे उनका देहान्त हो गया। प० रघुनाथ शर्मा उनके उसी उद्देश्य की रक्षा मे प्राणपण से लगे हैं। लॉज का प्रशस्त भवन काफी सुन्दर है। नीचे विशाल हॉल है, उसीमे पुस्तकालय और वाचनालय है। ऊपर अतिथि-गृह है। भारत के अनेक अतिथि वही ठहरते हैं। हम भी वही ठहरे थे। वहा की स्यामी परिचारिका, बौद्ध भिक्षु शासनरश्मि तथा शर्माजी ने जिस प्रकार हमारी देखभाल की, वह अनुभव करने की ही वस्तु है। स्यामी परिचारिका सुबह सवेरे ही आती, घुटने टेककर हमारे सामने बैठ जाती और धाराप्रवाह थाई भाषा मे अपना भाषण शुरू कर देती। यशपालजी और मैं, दोनो एक दूसरे का मुह देखकर हँसते तो हँसते ही रहते। वह पूछा करती थी, "नाश्ते के लिए क्या लाऊ ?" यशपालजी के बार-बार कूफे-कूफे कहने पर वह यह तो समझ जाती कि हम कॉफी चाहते हैं, पर खाने के लिए क्या चाहिए यह उसकी समझ मे तभी आता जब बौद्ध भिक्षु शासनरश्मि वहा आते।

भोजन प्राय हम शर्माजी के घर ही करते थे। लगता जैसे भारत मे ही हो—वही आत्मीयता, वही सहज स्नेह, वही स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थ। शर्माजी उस दौरान मे हमे अधिक-से-अधिक जानकारी देने को आतुर हो उठते और उनकी पत्नी हिन्दू घर की एक सरल-प्राणा, स्नेहमयी मा की तरह पास आ बैठती, कहती, "मैं भी आपकी बातें सुनूगी।"

लेकिन सच कहता हू कि उन क्षणो मे हम उनसे जो कुछ सीख सके वह शायद जन्म-जन्म प्रयत्न करने पर भी न सीख पाते। एक दिन यशपालजी पूछ बैठे, "क्यो भाभीजी, यह देश कैसा लगता है ?"

वह बोली, "अच्छा है, पर देश तो अपना ही होता है, अपने त्योहार, अपने रीति-रिवाज, वे ही अच्छे लगते है।

मैंने पूछा, "आप यहा के लोगो के घर जाती है ?"

बोली, "जाती हू, पर छुआछूत के कारण खाना नही खाती ।"

"ये लोग बुरा नही मानते ?"

"नही, ये लोग हमारी छुआछूत का इतना विचार नही करते । पहले हमारी पडोसिन एक स्यामी महिला थी । वह मुझे चावल पकाना सिखाती थी, लेकिन उसने कभी भी हमारे चौके मे जाने का प्रयत्न नही किया । बाहर खडे होकर ही बताती रहती थी ।"

फिर हँसकर बोली, "लेकिन एक लडकी ने हमारे चावल छू लिये ।"

मैं तुरन्त बोल उठा, "और आपने उन्हे फेक दिया होगा ?"

बोली, "नही ।"

"क्यो ?"

"क्योकि लडकी बेचारी भोली थी । उसने जानबूझ कर थोडे ही छुए थे । यही क्यो, एक दिन मैं उनके घर गई, उन्होने तरह-तरह के अचार डाले थे, मुझे भी चखने को दिये ।"

"आपने चखे ?"

"हा चखे, मना कर ही नही सकी ।"

"क्यो ?"

"उन्हें बुरा लगता न ।"

हम दोनो उनकी ओर देखते रह गए । शर्माजी धीरे-धीरे मुस्करा रहे थे और मैं सोच रहा था—विकृत से विकृत मान्यता भी हृदय की तरलता को नष्ट नही कर सकती । पर तरलता होनी चाहिए ।

लेकिन कहानी यही समाप्त नही होती । उन दिनो की बात है जब शर्माजी आजाद हिन्द फौज के एक स्तम्भ थे । अन्तिम पराजय के बाद जापानी जब बैंकाक छोडकर जाने लगे तो एक मुसलमान लडके को उनके पास छोड गए । उसे वह अराकान से पकड लाये थे, साथ ले जाना नही चाहते थे । सभी ने कहा, शर्माजी को सौंप जाओ । पर शर्माजी घर पर नही थे । वे फिर आये, पर तब भी वह घर नही थे । तब उनकी पत्नी ने कहा, "लडके को ही छोडना है तो छोड जाओ,

कोई बात नही ।"

उस लडके को उन्होने बेटे की तरह बडे प्यार से अपने पास रखा। कई दिन बाद शर्माजी लौटे । तब पता लगा कि वह लडका तो मुसलमान है ।

वह बोली, "कोई बात नही, एक बार बेटा मान लिया तो मान लिया, अब कोई भी हो ।"

उसे वह रणवीर कह कर पुकारती थी और कई वर्ष तक वह उनकी स्नेहमयी छाया मे पलता रहा । एक बार उसे बहुत जोर का टाइफाइड हो गया, लेकिन अपनी अनथक सेवा से उन्होने उसे मौत के मुह मे जाने से बचा लिया । अन्त मे एक दिन वह अपने मा-बाप के पास अराकान चला गया । कुछ दिन तक उसकी चिट्ठी आती रही । फिर जैसा कि होता है, उसका कोई समाचार नही मिला । बोली, "ठीक है, अपने घर चला गया, खुश होगा । भगवान करे खुश ही रहे ।"

जापान की पराजय के बाद आजाद हिन्द फौज जिन भयकर कष्टो मे से गुजरी, जिस दमन-चक्र का शिकार हुई, शर्माजी भी उससे बचे नही रहे । उन्हे गिरफ्तार करके ऐसी जगह रखा गया जहा निरन्तर दुर्गन्ध आती रहती थी । यही नही, फौजी गोरो ने उनके घर पर हमला किया और एक रात उनका सब-कुछ लूटकर ले गए । उस रात का वर्णन करते समय जैसे वह खो जाते थे । वह कगाल हो गए, पर उनका मन भी कगाल हो जाय तो शर्माजी कैसे ? उस सौम्य-शान्त मुस्कान मे तनिक भी विकृति नही आई । भारत और थाईलैण्ड के सम्बन्धो को मधुर और सुदृढ करने के प्रयत्न मे ,वह फिर से जुट गए । उन्होने थाई भाषा मे प्रयुक्त होने वाले सस्कृत के १,००० से भी अधिक शब्दो की सूची तैयार की । थाई-रामायण का हिन्दी मे अनुवाद कराया । यह अनुवाद प्रसिद्ध आर्य विद्वान प० गगाप्रसाद उपाध्याय ने किया है । हम से बोले, "आये हो तो यहा के कुछ विद्वानो से भी मिल लो ।"

यशपालजी तो स्वय ही आतुर थे, तुरन्त ही 'थाई-भारत कल्चरल लॉज' के प्रधान, थाईलैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान फाया अनुमान रचथौन

(राजधन) से मिलने का समय तय किया। उसके बाद प्रिन्स धानी निवात से भी बातें की। प्रिन्स न केवल एक विद्वान है, बल्कि राजनेता भी हैं। इस समय वह प्रिवी-कौंसिल, स्यामी सोसायटी तथा नेशनल कौंसिल ऑव म्यूजियम के अध्यक्ष है। उन दोनो महानुभावो से भेंट करने पर पता लगा कि वे लोग शर्माजी की कितनी इज्जत करते हैं। दोनो देशो मे परस्पर साहित्य का आदान-प्रदान कैसे हो, इसकी चर्चा चलने पर दोनो ने यही कहा कि शर्माजी ही यह काम करा सकते हैं। वह स्वय भी थाई भाषा जानते है।

श्री रचथौन ने जब शर्माजी की ओर देखा तो उन्होंने मुस्करा-कर कहा, "मैं तो कामचलाऊ भाषा जानता हू और अब ६३ वर्ष का भी हो चला।"

श्री रचथौन हँस पडे, "उसमे ९ वर्ष और जोड दो। मैं ७२ का हू और इतना काम करता हू। आप लोग मुझसे बाते करने आए, इस-से मेरी पत्नी बहुत खुश है, क्योकि इतनी देर तो मैं काम करने से बचा रहूगा।"

हम लोग खूब हँसे, उनकी पत्नी भी हँसी। प्रिंस धानी तो शर्माजी के बहुत ही प्रशसक है। बोले, "पण्डितजी बहुत अच्छा काम कर रहे हैं।"

पण्डितजी ने कृतज्ञ भाव से हाथ जोडे और कहा, "मैं क्या करता हू, करनेवाले तो आप ही है।"

प्रिंस धानी मुस्करा दिए, क्योकि वह जानते हैं कि शर्माजी सचमुच बहुत काम करते हैं, बहुत अच्छा काम करते हैं। उन्होने उन्ही दिनो बडे प्रयत्न से भारत के प्रधान मन्त्री स्व० प० जवाहरलाल नेहरू द्वारा बोधि वृक्ष की एक शाखा प्राप्त की थी और उसे वह समारोह-पूर्वक वहा के सबसे बडे बौद्ध गुरु को भेंट करने का आयोजन कर रहे थे। ऐसे आयोजन वह अक्सर करते रहते है। फाया अनुमान रचथौन, प्रिंस धानी निवात आदि प्रसिद्ध विद्वान और वहा के राजनेता उसके साक्षी है।

भारत लौटने पर पता लगा कि एक बहुत बडे उत्साह के साथ यह कार्य सम्पन्न हुआ। शर्माजी थाईलैण्ड के २०,००० भारतीयो के प्रिय

नेता है। थाई सरकार भी उनका सम्मान करती है। वहा के पत्रकार, लेखक और विद्वान सभी उनके प्रशसक और मित्र हैं। कुछ भारतीय आर्यसमाज के अधिकारी है, कुछ हिन्दूसमाज के सचालक है, सभी ने हम पर प्रेम की वर्षा की, परन्तु विष्णु मन्दिर, गुरुद्वारा आदि को मिलाकर ये सभी सस्थाए उपयोगी होकर भी इस समय अनजाने ही मिलाने से अधिक अलग करने का काम करती जान पडती है। परन्तु शर्माजी सबके साथ रहकर भी सबसे दूर, 'थाई-भारत कल्चरल लॉज' द्वारा न केवल प्रवासी भारतीयो की सुख-सुविधा का ध्यान रखते हैं, बल्कि दो देशो को निरन्तर पास लाने का प्रयत्न करते रहते हैं। आयु बढ रही है, उनकी चिन्ता भी बढ़ रही है। जब हम चलने लगे तो हमने उनसे पूछा, "हमारे योग्य कोई सेवा बताइये।"

वह तुरन्त बोल उठे, "सेवा एक ही है कि भारत जाकर एक ऐसा व्यक्ति यहा भेजिए जो विद्वान हो, सेवा-भावी हो, मिशनरी हो और जो स्वामी सत्यानन्द के काम को सम्हाल सके। मुझे रुपये की कमी नही है, कमी काम करने वाले की है।"

"सुना है, भारत से कोई आया था।"

शर्माजी विद्रूप से बोले, "हा, एक सज्जन आये थे। पर लॉज की टाइपिस्ट से ही साठ-गाठ कर बैठे। विदेशो मे काम करने वालो को बहुत ऊचे चरित्र की आवश्यकता है। थाईलैण्ड सास्कृतिक दृष्टि से भारत के कितना पास है।"

शर्माजी मौन हो गए, जैसे उनकी तडप ने उनकी वाणी को अवरुद्ध कर दिया हो।

पेनाग से लौटते हुए बैंकाक के हवाई अड्डे पर कुछ रुकना था। शर्माजी को सूचना दे दी थी। जब हम हवाई अड्डे पर उतरे तो वर्षा हो रही थी। लेकिन देखते क्या है कि शर्माजी सदल-बल वहा उपस्थित है। स्वामीजी, जगदीशजी, मुनीश्वरजी आदि सभी आये है। क्या बताऊ, उन्हे देखकर कैसा लगा! लौटते समय उन्होने कहा, "मेरी बात याद रखना और वैसा कोई व्यक्ति भेज सको तो भेजना।"

अभी भी जब कभी निराशा आ घेरती है तो सौम्य-शान्त शर्माजी की

उस मुस्कराती हुई मूर्ति का स्मरण कर लेता हू। मन जैसे विश्वास से भर उठता है। सुनता हू जैसे कोई कह रहा है, "कोई भय नही, सब कही अपना ही घर है, सब अपने ही है।"

: १६ :

आचार्य शिवपूजन सहाय

आचार्य शिवपूजन सहाय का स्मरण आते ही, जो व्यक्तित्व आखो मे उभरता है, वह एक ऐसे व्यक्ति का रूप है, जो अकिंचनता मे से ही शक्ति ग्रहण करता है। उसके चारो ओर एक सुमधुर व्यक्तित्व की सुगन्ध महकती रहती है। उसके सौम्य चरित्र की निर्मल किरणें आस-पास के जीवन को न केवल प्रज्वलित करती है, बल्कि उसे प्राणो से भी भरती है। सक्षिप्त शरीर, प्रदीप्त मुखमण्डल, बाहरी निरीहता के पीछे से झाकती हुई तलस्पर्शी दृष्टि—आचार्य शिवपूजन सहाय अपने आसपासवालो के लिए परिवार के उस बुजुर्ग की तरह से थे, जो कृतित्व और अजस्र स्नेह के भीतर से अनुशासन की बागडोर सम्भालता है।

उनके निधन के साथ भारतीयता का एक युग जैसे समाप्त हो गया। अहम् को पीछे रखकर जो कृति हुए, ऐसे व्यक्ति एक-एक करके चले जा रहे हैं। अभी-अभी जो दिवगत हुए है, वह श्रद्धेय सियारामशरण गुप्त उसी परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कडी थे। गुप्तजी मूलत कवि थे, लेकिन आचार्य मूलत भाषा तत्त्वविद् थे। अपनी शैली के लिए हिन्दी साहित्य मे सदा अमर रहेगे। सत्तर वर्ष के जीवन मे जहा उन्होने अपने अस्तित्व के लिए सतत सघर्ष किया वहा भाषा परिष्कार के लिए अनथक परिश्रम भी किया और अन्त तक कृति बने रहे। कितने पत्रो का उन्होने सम्पादन किया, कितनी पुस्तको के परिशोधन मे उनका हाथ रहा, यह सहज ही बता देना सम्भव नही है। उनकी दृष्टि जहा स्नेह से लबालब भरी रहती थी, वहा वह अन्तरतम को भेदने की अपूर्व क्षमता

भी रखती थी। भाषा की शुद्धता और नये-नये प्रयोगो के प्रति वह अत्यन्त सजग रहते थे। याद आता है कि जब मैंने हिन्दुस्तानी मे लिखने का दुस्साहस किया तो उनकी चोट से नही बच सका था। उर्दू शब्दो के अनुपयुक्त प्रयोग को लेकर उन्होने मेरी एक कहानी की बडी कडी आलोचना की थी। मैं उसे कभी स्वीकार नही कर सका। सदा उनसे मतभेद बना रहा। परन्तु उनकी निष्ठा पर आरोप कर सकू, ऐसी कल्पना मेरे मस्तिष्क मे भी नही आई। यो उनसे प्रशसा भी कम नही पाई है। अपनी कुछ कहानियो पर उनकी राय को मैंने मन ही मन सचमुच श्रेष्ठता का प्रमाणपत्र माना है।

वह विनम्रता की प्रतिमूर्ति थे, इतने कि शका होती थी कि यह निरीह व्यक्ति आखिर किस शक्ति के बल पर प्राणवान है। उन दिनो की बात है, जब वह राजेन्द्र कालेज, छपरा मे प्राध्यापक थे और बीच मे एक साल की छुट्टी लेकर 'हिमालय' नामक मासिक पुस्तक का सम्पादन कर रहे थे। मैंने अपनी एक कहानी छपने के लिए भेजी थी। जैसा कि बहुधा होता है, सम्पादको को निर्णय लेने मे देर हो गई और मैने इस बात की शिकायत उनको लिख भेजी। उत्तर आया कि कहानी लौटा दी गई है। यह भी लिखा था कि स्थानाभाव के कारण ही ऐसा करना पडा है, नही तो आपकी रचनाओ की श्रेष्ठता के बारे मे दो मत नही हो सकते।

दुर्भाग्य से वह पत्र कही खो गया है। याद नही पडता कि इतना शिष्ट और सौम्य शिष्टाचार कही और देखा हो। लेकिन कहानी यही समाप्त नही हो जाती क्योकि मेरी कहानी वास्तव मे लौटाई नही गई थी। मैंने उन्हे फिर लिखा और अपने स्वभाव को जानते हुए समझता हू कि कुछ क्रोध मे ही लिखा होगा। उसके उत्तर मे जो पत्र मुझे मिला वह आचार्य शिवपूजन सहाय ही लिख सकते थे। उन्होने लिखा था

मान्यवर,

सादर वन्दे।

आपका कृपा पत्र मिला था। मैं खेद एव लज्जा के वश उत्तर न दे सका। आज पटना के ऑफिस के सूचना आई है कि आपकी एक

'वेबसी' शीर्षक कहानी फाइल मे है। मैंने उसे ढूंढ़ा आया है। उसे पाते ही मैं आपको तुरन्त पत्र लिखूगा। आशा है आपकी वही कहानी है जिसके बारे मे आपको मैं सूचित कर चुका था कि लौटा दी गई है। ऑफिस से पूछने पर मुझे ऐसा ही पता लगा था। खैर, आपसे करबद्ध क्षमा प्रार्थना करता हू। भूलचूक माफ कीजिए। मुझे बहुत पीडा हो रही थी कि मुझसे आपकी रचना भूल गई। अब उसे आपके आदेशानुसार ही काम मे लाऊगा। ११वा अक छप चुका और १२वा छपने लगा। मैं कोशिश करूगा कि इसमे आपकी चीज चली जाए। नही तो प्रथमाक मे जरूर। किन्तु आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा करूगा। —शिव

कार्यालय की भूल को सहज भाव से अपने ऊपर ओढकर इतनी निरीह विनम्रता से खेद प्रकट करनेवाले को आज 'गाधीवादी गिलगिली विनम्रता' का शिकार ही कहा जाएगा। परन्तु मुझे तो इस पत्र के प्रत्येक शब्द के पीछे उनकी सौम्य, सरल और अकिचन मूर्ति ही उभरती दिखाई दी। वह इतनी विशाल थी कि उसके उत्तुग शिखर के सामने मैं क्षुद्रातिक्षुद्र बौना होकर रह गया। मुझे उनके पास रहने का सौभाग्य कभी नही मिला। दूर से ही एक बुजुर्ग के रूप मे उन्हे देखता रहा। लेकिन यह पत्र पाकर तो जैसे मैं लाज से गड ही गया। कहा मेरा तामसिक अहम् और कहा यह सात्विक विनम्रता।

लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नही है कि उनके भीतर उष्णता थी ही नही। वह जितने स्नेहिल थे, उतने सजग भी थे। और जो सजग है उसमे निराकरण और निषेध की शक्ति निश्चय ही होती है। अभी उस दिन एक मित्र बता रहे थे कि अयोग्य की स्पर्धा से वह अत्यन्त बेचैन हो उठते थे। ऐसे व्यक्तियो की कभी कमी नही रही जो अपने भीतर शून्य होने पर भी सब-कुछ का दावा पेश करते हैं और फिर साहित्य के बाजार मे अपना सिक्का चलाना भी चाहते हैं। ऐसे ही एक व्यक्ति को लेकर मेरे मित्र ने उन्हे अत्यन्त क्षुब्ध होते देखा। ऊपर के पत्र का जैसे नितान्त विपरीत रूप हो। मित्र के वर्णन पर से मैं उस मूर्तिमान क्षुब्धता की कल्पना कर सकता हू। हमारे प्राचीन साहित्य मे शिव एक अद्भुत देवता के रूप मे कल्पित किये गए हैं। वह देवा-

धिदेव है, शिवशकर है, स्मशानवासी, अत्यन्त अकिचन और निरीह है। भोले इतने कि सहज ही कोई उनको ठग सकता है। लेकिन रुद्र भी वही है। उनके मस्तक का तीसरा नेत्र जब खुल जाता है, तो सब-कुछ भस्म होकर ही रहता है। वह मरघटवासी, औघडदानी ताण्डव नृत्य करना भी जानता है। विश्व की रक्षा के लिए ही वह महानाश का रास रचाता है, जैसे उसके प्रेम और कल्याण की कोई सीमा नही है, वैसे ही उसकी विनाशक शक्ति की कोई थाह नही है। निर्माण के लिए विनाश अनिवार्य है।

आचार्य शिवपूजन सहाय उसी देवाधिदेव महादेव भोले बाबा शिवशकर का प्रतीक है। अभी दो-तीन वर्ष पूर्व जब पटना मे उनके दर्शन किए थे, तो वह बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के भवन के एक बरामदे मे एक बहुत बडी मेज के सामने ढेरो पुस्तको और पत्रिकाओ के पीछे धसे हुए बैठे थे। हमे देखकर दृष्टि उठाई और फिर उस अपार ज्ञान भण्डार के नीचे से ऐसे उठे मानो कह रहे हो, "आप मुझे खोज रहे हैं न, मैं यहा हू, इस कुर्सी के भीतर।"

लेकिन कुछ क्षण ही बाद उनका अस्तित्व जैसे उस सारे बरामदे मे ही नही, बल्कि उस सारे भवन के ऊपर छा गया हो। आज भी आखो मे उनका वह रूप उभर-उभर उठता है। उनके पत्र स्मृति-पटल पर अकित हो जाते है। आज के मुखर युग मे जहा स्पष्टवादिता धृष्टता और तिरस्कार की सीमा तक पहुच गई है, जहा अहम् ही आत्मगौरव का आधार है, उनके लिए सचमुच ही कोई स्थान नही रह गया था। उन्होने सतत सघर्ष किया। अपने लिए स्वय स्थान बनाया, सम्मान भी यथेष्ट पाया, यद्यपि उस सम्मान के करनेवाले स्वय ही अधिक सम्मानित हुए। लेकिन इसमे कोई सन्देह नही कि उन्होने अपनी शूक्ष्म मतभेद दृष्टि और सजगता से जहा साहित्य के निर्माण और सम्पादन मे ख्याति अर्जित की, वहा अपने सहज सौम्य स्वभाव के कारण असख्य मित्र और भक्त भी पाये। उन्होने अनेकानेक व्यक्तियो का निर्माण किया, उन्होने सघर्षरत युग की चेतना मूर्त की, वह सचमुच साहित्य मे जो कुछ भी सत्य, शिव और सुन्दर है उसका इतिहास है।

वह उस युग के प्रतीक थे जो अब बीत गया है लेकिन एक ऐसे नये युग की नीव डाल गया है जो तनिक-सी सजगता से भारत के गौरव को तेज प्रदान कर सकता है।

: १८ :

पंखुरी और फौलाद

बीते निशा, उदय निश्चय सुप्रभात—
आते नहीं दिवस हन्त ! पुन गये जो।
आशा भरी नयन मध्य अपार, किंतु—
बीती वसन्त स्मृतियां दिल को दुखातीं॥

पडितजी को मैंने गाधी-इर्विन-पैक्ट के अवसर पर मार्च १९३१ मे दिल्ली मे देखा था। उस समय का उनका वह अशात-उग्ररूप कभी नही भूलता। वह उस पैक्ट से प्रसन्न नही थे और वह अप्रसन्नता उनकी प्रत्येक गतिविधि मे उबल-उबल पडती थी। उन्हे एक सभा मे झण्डा-अभिवादन के लिए आमत्रित किया गया था। किसी कारणवश उसमे देर होगई। बस, वह क्रुद्ध हो उठे और उबलते-उफनते, न जाने क्या-क्या कहते, मच से उतरकर चले गए। वह दृश्य—उनका तेजी से जाना और पडित इन्द्र विद्यावाचस्पति का उनके पीछे-पीछे लपकना, कभी नही भूलता।

जीवन के अतिम क्षण तक अव्यवस्था और अनियमितता के प्रति उनकी यह खीज बराबर बनी रही। असख्य बार उनको इसी रूप मे देखा। १५ अगस्त, १९५० की उस रात की याद आती है। राष्ट्रपति-भवन मे सयुक्त-राष्ट्र समिति की दिल्ली शाखा ने स्वतन्त्रता-दिवस के उपलक्ष्य मे एक स्वागत-समारोह का आयोजन किया था। तीन ओर से खुला रगमच, दूर-दूर तक राष्ट्रपति-भवन के प्रशस्त लॉन मे बैठे हुए शरणार्थी, सामने अपनी-अपनी विशिष्ट वेशभूषा मे सभी देशो के राजदूत,

राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, प्रधानमत्री सहित समस्त मत्रिमण्डल, सरकारी अधिकारी और राजधानी के प्रमुख नागरिक । मच पर थे आकाशवाणी के वाद्य-वादक और सगीतज्ञ और थी सुप्रसिद्ध नृत्यकार कमला केसरकोडी ।

समारोह अत्यन्त सफल रहा । तब स्वाभाविक रूप से कलाकारो ने चाहा कि उनका राष्ट्रपति से परिचय हो । सयोजन-समिति के एक सदस्य के नाते मैंने पडितजी से प्रार्थना की तो वह तुरन्त बोले, "हा-हा, मैं कलाकारो का परिचय राष्ट्रपति से अवश्य कराऊगा ।"

परन्तु समिति के सयोजक ने न जाने क्या सोचकर कलाकारो को मच पर पक्तिबद्ध खडे होने की आज्ञा दी । उनका कहना था कि सयोजक होने के नाते परिचय कराने का अधिकार उनका है । लेकिन अभी पक्ति बनी भी नही थी कि नेहरूजी आवेश मे आकर कुर्सी से उठ खडे हुए और बोले, "यह क्या, बत्तमीजी है ?"

मैं सबसे आगे था । कहना चाहा, "जी कलाकारो को "

पडितजी एकाएक बीच मे बोल उठे, "कलाकार-कलाकार, क्या राष्ट्रपति उनसे मिलने के लिए मच पर जायगे ?"

"जी, नही, सयोजक "

वाक्य पूरा होने के पूर्व ही नेहरूजी तडप उठे । मुझे एक जोर का धक्का दिया, बोले, "तुम कौन हो, कलाकार ?"

"जी नही !"

"तो यहा क्यो खडे हो ? तमीज है ? कोई तमाशा है ?"

और फिर धक्का दिया । मैं दूर जाकर गिरा । सयोजक तबतक सभापति-सहित पिछले द्वार से जा चुके थे । किसी तरह उप-सभापति ने स्थिति को सभाला । कहा, "पडितजी, यहा लाने के लिए ही कलाकारो को मच पर इकट्ठा किया है ।"

पडितजी ने कहा, "तो लाओ न, राष्ट्रपति से कलाकारो का परिचय मैं कराऊगा । मै प्रधानमत्री हू । मेरे रहते और कौन करा सकता है ?"

और तबतक कलाकारो ने उन्हे घेर लिया था ।

और नेहरूजी उनसे हँस-हँसकर बात करने लगे थे ।

· · · · · · ·

एक और घटना की याद आती है । ३ दिसम्बर, १९५० । राष्ट्रपति-भवन का एक शात ठिठुरता सबेरा । उस दिन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी की वर्षगाठ थी । स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्र-पति की वर्षगाठ । जिसने चाहा उसे आने की अनुमति मिली । साढे-आठ बजे तक मैं भी वहा पहुच गया । देखा, एक छोटी-सी भीड अव्यवस्थित रूप से प्रशस्त मुगल उद्यान मे बिखरी हुई है । कुछ ही क्षण बाद ममता की मूर्त्ति राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद भी वहा आ गए । जनता भूल गई, वह भूल गए, उनके अगरक्षक भी भूल गए कि वह राष्ट्रपति हैं । उस क्षण वह देश के दुलारे 'रजिन्नरबाबू' बन गए, और जनता 'मैं पहले हार डालू' की होड मे उनपर पिल पडी । अगरक्षक आये, सचिव आये, पर बाढ क्या रोके रुकती है ! सभी विवश थे कि तभी दूर से एक कडकता हुआ स्वर सुन पडा, "यह क्या बत्तमीजी है ?"

देखता हू कि हाथो मे गुलाब के फूलो का गुच्छा, गति मे आवेश और नेत्रो मे आक्रोश लिये इन्दिराजी के साथ नेहरूजी चले आ रहे हैं । भीड ऐसे फट गई, जैसे उषा के आगमन पर पौ फट जाती है । सबसे पहले पडितजी ने राष्ट्रपति का अभिवादन किया और फिर उस विस्तृत मुगल उद्यान मे रविश के साथ-साथ जनता को खड़ा होने [और अभिवादन करने का सकेत किया और फिर स्वय सबसे हँस-हँसकर बातें करने लगे ।

इसके विपरीत मैंने उनको अत्यन्त उत्तेजित वातावरण मे परम शात रूप मे देखा है । उनके निवास पर नृत्य-नाटकादि देखने का अवसर बहुत बार मिला है । परन्तु उन्हे पास से देखने का सुयोग साहित्यिको के समारोह मे ही हुआ है । ३ दिसम्बर, १९५६ की याद हृदय-पटल पर बडी गहरी अकित है । उन दिनो राजधानी मे यूनेस्को का सम्मेलन हो रहा था । उसमे विश्व के कई लेखक भी आये थे । इसी अवसर का लाभ उठाकर साहित्यिको की विश्व-सस्था पी० ई० एन०

ने पडितजी की कोठी पर एक छोटी-सी सभा का आयोजन किया। प्रधानमत्री-निवास के ऊपर के कमरे मे सब लोग एकत्र हुए। उनके वीच मे वैठे थे पडितजी, अत्यन्त शात-गभीर मुद्रा मे। बातें करते-करते वह मुस्कराते, फिर कही खो जाते। सहसा एक वृद्ध भारतीय सज्जन ने पडितजी से पूछा, "पडितजी, आप अमरीका जा रहे है। वहापर मेरे एक अजीज है। क्या उनका आपसे मिलना हो सकता है ?"

पडितजी ने शात भाव से उत्तर दिया, "क्यो नही हो सकता ! आप उनको लिख दीजिये कि जब मैं वाशिंगटन पहुंचू तो वह राजदूत से सम्पर्क स्थापित कर ले।"

वात जैसे समाप्त होगई। मैंने पडितजी से कहा, "पडितजी, आज हम आपके घर आये है, लेकिन इसके लिए निमत्रण हमे पी० ई० एन० की ओर से मिला है। मैं चाहता हू कि इस निमन्त्रण पर आपके हस्ताक्षर भी होते।"

यह कहकर वह निमत्रण-पत्र मैने उनकी ओर वढा दिया। पडितजी मुस्कराये। वह पत्र लिया और उसके पृष्ठ भाग पर हस्ताक्षर वना दिए। वह हस्ताक्षर कर ही रहे थे कि वह पूर्व सज्जन फिर वोले, "लेकिन पडितजी, राजदूत से सम्पर्क होनेपर भी आपसे मिलना कैसे होगा ?"

पडितजी उसी शात भाव से वोले, "अरे भाई, वह जब राजदूत से सम्पर्क स्थापित करेंगे तो अपनी बात तो कहेगे ही। तब राजदूत उन्हे किसी उत्सव मे आमत्रित कर लेंगे।"

किसी ने कोई और प्रश्न पूछ लिया। पडितजी उसका उत्तर देने लगे। परन्तु वह पूर्व सज्जन अब भी सतुष्ट नही हुए थे। उन्होंने फिर पूछा, "पडितजी, किस उत्सव मे राजदूत उनको आमत्रित करेंगे और फिर आपसे मिलना कैसे होगा ?"

वडा अजीब-सा प्रश्न था। स्वाभाविक था कि पडितजी उबल पडते। लेकिन वह पूर्णतः शात बने रहे। बोले, "यह सब मैं इस समय कैसे बता सकता हू। मेरे पास कार्यक्रम नही है। जब भी मैं कही जाता हूं, राजदूत वहा के भारतीयो को मुझसे मिलने के लिए आमत्रित

करते है। आप उनको लिख सकते है कि सब बातें राजदूत से कह दें। तब हमारा मिलना सहज हो जायगा।"

यह सज्जन कोई प्रसिद्ध व्यक्ति नही थे, परन्तु जिस प्यार और सहजता का पडितजी ने उस दिन प्रदर्शन किया वह उनके लोक-प्रचलित रूप से भिन्न था।

आकाशवाणी के साहित्य-समारोह के बाद की एक और घटना याद आती है। पडितजी ने सभी साहित्यिको को चाय-पार्टी पर आमन्त्रित किया था। नियत समय तक धीरे-धीरे सभी व्यक्ति उनके प्रशस्त लॉन मे इकट्ठे हो गए। लेकिन स्वय वह वहा नही दिखाई दे रहे थे। सब लोग नाना प्रकार की कल्पनाओ मे व्यस्त हो उठे कि तभी मैंने देखा, पडितजी अपनी कोठी के अदर के मार्ग से होकर जल्दी-जल्दी चले आरहे हैं। आते ही उन्होंने अपने प्रिय पाडा को गोदी मे उठा लिया। सयोग से उस ओर मैं सबसे आगे खडा था। मैंने कहा, "पडितजी, बडी देर होगई आपको।" वह हँसे और पाडा पर हाथ फेरते-फेरते बोले, " ने परेशान कर दिया। 'गाय-गाय' हर वक्त 'गाय-गाय' करता रहता है।"

और यह कहते हुए उन्होने पाडा को राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की ओर फेंक दिया। गुप्तजी 'हाय दैया रे' कहते हुए तेजी मे पीछे हट गए और पडितजी खिलखिला पडे। फिर मेरे कधे पर हाथ रखकर आगे बढते हुए बोले, "आओ-आओ, देर होगई, चाय पीले।"

उस दिन लोकसभा मे गौ-रक्षा विधेयक को लेकर वह अत्यन्त उत्तेजित हो उठे थे। परन्तु साहित्यिको की सभा मे वह उतने ही सहज भाव से खिलखिलाते रहे। प्रधानमन्त्री-निवास की वह सध्या, पडितजी का हँस-हँसकर सबसे बोलना-बतियाना, फिर लॉन मे आराम-कुर्सी पर बैठकर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमेन्द्र मित्र तथा पाकिस्तान के सुप्रसिद्ध कवि फैज अहमद 'फैज' से कविताए सुनना। वह कैसा समा था! पडितजी जैसे कही खो गए थे। 'फैज' अपने मादक स्वर मे कुर्सी के पास लॉन पर बैठे कविता पढ रहे थे और हम सब

वडे-छोटे उनके चारो ओर घिर आए थे। वह भव्य दृश्य आज भी याद आता है तो रोमाच हो आता है।

. .

पडितजी के शात, मधुर रूप की एक स्मृति मिटाये नही मिटती। शनिवार, ५ दिसम्वर १९४८। सवेरे के लगभग ९ बजे थे। मैं दिल्ली के बुद्ध-विहार मे हिन्दी के सुपरिचित लेखक तथा वौद्ध भिक्षु भदन्त-आनन्द कौसल्यायन के पास वैठा था। सहसा सडक पर कुछ कोलाहल सुनाई दिया। दूर से आता जयध्वनि का मन्द स्वर भी कानो से आ टकराया। एक व्यक्ति ने दूसरे से पूछा, "क्यो भाई, कोई हादसा हो गया है ?"

उत्तर मिला, "नही, हादसा नही हुआ, पडितजी आये है।"

पडितजी आये विड़ला मन्दिर मे, हादसा ही तो है। भागे-भागे पुजारी आये और वोले, "भन्ते, पडितजी मन्दिर मे दर्शन करने आए है। मैंने उनसे कहा था, 'पडितजी, आपको सब नास्तिक समझते हैं, लेकिन आप है नही। आप तो सव धर्मों को मानते है। हिन्दुओ का यह भ्रम दूर करने के लिए आपको बिडला मन्दिर मे आना चाहिए।'

तभी पडितजी सर्वश्री जुगलकिशोर बिडला, गोस्वामी गणेशदत्त और इन्दिराजी के साथ हमारी ओर आते दिखाई दिए। आनन्दजी को देखकर पूछा, "कहो, यहा क्या कर रहे हो ?"

और दो क्षण वातें करने के वाद हमे भी साथ लेकर आगे बढ गए और बडी देर तक उत्सुकतापूर्वक मन्दिर मे अकित तथागत के चित्रो को देखते और चर्चा करते रहे। यहा मुझे हिमालय मे १२,००० फुट से ऊपर गोमुख के मार्ग पर रहनेवाले स्वामी तत्त्ववोधानन्द की बातें याद आती है। उन्होने कहा था, "नेहरूजी नास्तिक नही हैं। बम्बई की एक सभा मे मैंने उनको देखा था। बहुत भीड थी और वह उनको व्यवस्थित करने की चेष्टा कर रहे थे। सहसा उन्होने एक ब्रह्मचारी को देखा और उससे वैठने की प्रार्थना की। लेकिन कहने से पूर्व हाथ जोडकर प्रणाम किया। जिसका अन्तर्मन आस्तिक है, वही ऐसा कर सकता है। आज हम आस्तिकता की अत्यत सकीर्ण व्याख्या मे

उलझे हैं।"

यह स्वामीजी की राय है, परन्तु मुझे लगता है, पडितजी नास्तिक ही थे। हा, उनकी नास्तिकता रोमा रोला के शब्दो मे "वह नास्तिकता थी, जो जब सर्वांशत सच्ची बलवती प्रकृतियो से निकलती है और जब वह निर्बलता की नही, बल्कि शक्ति की एक मूर्त्तरूप होती है तो वह भी धार्मिक आत्मा की महान सेना मे शामिल हो जाती है।"

पडितजी के और भी अनेक रूप है। मैंने उनको शिशु जैसे अत्यत सरल रूप मे भी देखा है। २६ जनवरी के एक उत्सव की याद है। पडितजी हजारो अभ्यागतो के बीच हँसते-हंसते घूम रहे थे और अभ्यागत लोग उनके साथ फोटो खिचवाने को उन्हे घेर-घेर लेते थे। सहसा एक सुन्दर युवती उनके सामने आई। अत्यत विनम्र शब्दो मे उसने कहा, "पडितजी, कृपा करके मेरे साथ भी।"

पडितजी ने उसकी ओर देखा, आगे बढ गए। वह युवती तेजी मे आगे बढी और बोली, "पडितजी, बडी कृपा होगी, एक फोटो।"

पडितजी फिर आगे बढ गए। युवती हार माननेवाली नही थी। वह उनके बिल्कुल आगे आ गई और जैसे गिडगिडाती हो, "पडितजी प्लीज़।"

और पडितजी मुस्कराये। उसको प्यार मे अपने बराबर खीचकर खडे हो गए। फोटो खिचा। असख्य फोटो खिचे होगे, लेकिन सयोग की बात, दो दिन बाद ही अग्रेजी के एक साप्ताहिक मे मैंने उस चित्र को देखा। उसके नीचे लिखा था—"भारत के प्रधानमन्त्री सम्पादक की पत्नी के साथ।"

व्यापारिक मूल्य की ऐसी अनेक घटनाए याद आती हैं, लेकिन याद नहीं आता कि पडितजी ने कभी ऐसे लोगो को निरुत्साहित भी किया हो। कुछ वर्ष पूर्व एक गरीब युवक अपने प्रान्त के नेता का पत्र लेकर उनसे मिलने के लिए दिल्ली आया था। परन्तु प्रयत्न करने पर भी वह कोठी मे प्रवेश न पा सका। आखिर आवेश मे आकर एक दिन

उसने उनकी कार को रुकने का सकेत किया। कार तो नही रुकी, पर पुलिस ने उस युवक को अवश्य रोक लिया। कई दिन बाद जब उसकी खोज हुई तो, पता लगा कि वह जेल मे है। जेल उसके लिए नई जगह नही थी। परन्तु परिस्थिति का व्यग्य अवश्य क्रूर था। जब पडितजी को पता लगा तो उन्होने उस युवक को उसी क्षण मुक्त करने का आदेश दिया। यही नही, उसकी शिक्षा के लिए जितने खर्च की आवश्यकता थी, उस सबकी अपने पास से उचित मात्रा मे व्यवस्था कर दी। लेकिन दुर्भाग्य से वह युवक इस अवसर से लाभ न उठा सका। 'पडितजी मेरे सरक्षक है' इस बात ने उसे पथ-भ्रष्ट ही किया। उनके नाम का अनुचित उपयोग करने से भी वह नही चूका। पडितजी केवल वैधानिक प्रतिवाद करके ही रह गए।

इन सस्मरणो का कोई अत नही है। लेकिन कान्स्टीट्यूशन क्लब की एक सभा की सहसा याद आ जाती है। इडोनेशिया के प्रधान डा० सुकर्ण के सम्मान मे वह समारोह था। अधेरा हो चला था। समारोह के बाद पडितजी अपनी कार की ओर जा रहे थे। सदा की भाति उनके आस-पास एक भीड थी। सुन्दर नर-नारिया, प्रतिष्ठित नेता और कई विदेशी अभ्यागत। तभी मैंने देखा, उनकी उगली पकडे एक बालिका भी साथ-साथ चल रही है। वह कभी प्यार से उसका गाल थपथपाते, कभी उसके सिर पर हाथ फेरते। एक बन्धु बोले, "यह बालिका किसी राजदूत की कन्या है।" दूसरे ने कहा, "नही-नही, उनके परिवार के किसी प्रिय की बालिका है।" तीसरे बोले, "अजी, नही, डाक्टर सुकर्ण के साथ आई है।"

कि सहसा देखता हू कि वह बालिका पडितजी का हाथ छोडकर हमारी ओर भागी आ रही है। पास आई और मुडकर पडितजी की ओर देखा, फिर भागती हुई सडक के उस पार चली गई। जैसे बिजली कौंधी। क्या देखा—उसके शरीर पर पर्याप्त वस्त्र तक नही है। जो है, वे तार-तार हो रहे हैं। पैर नगे है। आखें कीच से भरी है और सिर गजा है।

वह किसी निर्धन मजदूर की निरीह बालिका थी, जो सयोग से वहा आ निकली थी और चाचा नेहरू को देखकर पास आ गई थी। पर मुझे उस समय याद आ गई १९४७ की एशियन काफ्रेस की, जब मैंने उन्हे उन्मुक्त रूप से सुन्दर युवतियो को थपथपाते और बच्चो की भाति उनके गाल मीडते देखा था।

ये घटनाए स्वय बोलती हैं। उनकी न कोई सीमा है, न सख्या। एक-से-एक बढकर भव्य, एक-से-एक बढकर कामल। इस क्षण तुष्ट, उस क्षण रुष्ट। इस क्षण क्रोध से उबलते हुए, उस क्षण असीम करुणा से ओतप्रोत। परस्पर-विरोधी तत्त्वो के सम्मिश्रण से ही प्रतिभा मे सजीवता और गहराई आती है तथा सवेदनशीलता सूक्ष्म होती है। वस्तुत वह नैतिक स्तर पर नही जीते थे। इसीलिए उनके बहुत-से काम हमे गलत मालूम होते थे। उनकी दृष्टि सकुचित राष्ट्रीयता से बहुत ऊपर थी। इसीलिए राष्ट्रीय तल पर जीनेवाले हम लोग उनके बहुत-से कामो को नही समझ पाते थे। उनका एक और भी रूप था। उस समय वह अपने को इस धरती से निर्वासित अनुभव करते थे।

उस दिन वह शब्दहीन ससार की साम्राज्ञी हेलन केलर के साथ राष्ट्रपति-भवन के अशोक कक्ष मे एक कोच पर बैठे हुए थे। हेलन केलर धीरे-धीरे गोद मे रखे हुए तकिये पर हाथ फेर रही थी और पास के कक्ष से आती हुई वाद्य-सगीत की ध्वनि वहा गूज उठी थी। स्पर्श के द्वारा वह उस गूज को पहचानने का प्रयत्न कर रही थी। लेकिन पडितजी उस क्षण जैसे कही निर्वासित हो गए थे, कही वहा, जहा किसी की पहुच नही है। वह भूल गए थे कि वह किसी के पास बैठे हैं, कि वहा सगीत की ध्वनि गूज रही है। जिस क्षण आहट पाकर वह जागे, तो वह इस प्रकार चौंके मानो किसी अज्ञात प्रदेश मे आगए हो। उनकी वही, अन्तर्मुखी चकित दृष्टि, वह भोली-भाली रहस्यमयी मुस्कान, मैंने अनुभव किया कि सचमुच ही इस धरती पर नही थे। यद्यपि यह भी इतना ही सही है कि उन्होने इस धरती को जितना प्यार किया और इस धरती के वासियो से जितना प्यार पाया, उतना शायद ही

किसी ने पाया हो।

अत मे सुदूर रूस की याद आती है। १९६१ का जुलाई मास, सुनहरी धूप मे स्नात मास्को नगर—क्रेमलिन के विशाल सभा-भवन मे शान्ति-सम्मेलन चल रहा था। अवकाश के क्षणो मे सभी देशो के व्यक्ति एक-दूसरे का परिचय पाते, विचार-विनिमय करते, ऐसे ही क्षणो मे एक दिन एक स्कॉच मित्र ने पूछ लिया, "नेहरू के बाद आपके देश मे कौन हैं, जो . "

इस प्रश्न से हम बहुत परेशान हो उठे थे, इसलिए मैंने बीच मे ही कहा, "क्या मैं जान सकता हू कि इस बात मे आपकी इतनी रुचि क्यो है ?"

वह मित्र पादरी थे। अत्यत गभीरता से उन्होने उत्तर दिया, "क्योकि शाति के पक्ष मैं नेहरू की आवाज सशक्त आवाज है। वह केवल राजनेता नही है "

मैं उन्हे देखता रह गया। वह स्वर ईमानदारी से भरा था। मैंने कहा, "विश्वास रखिये, नेहरू के बाद कोई भी हो, यह आवाज कमजोर नही पडेगी।"

अपरिचय के कारण दूर-दूरसे ही मैंने इस रहस्यमय व्यक्ति को देखा और अनुभव किया कि इसका मस्तिष्क वैज्ञानिक का होकर भी हृदय कवि का ही है, इसीलिए इसका स्पर्श पाकर राजनीति काफी सभ्य हो गई है। इसीलिए राबर्ट फ्रास्ट की ये पक्तिया उसे प्रिय थी।

> वन पथ हैं प्रियतर, घोर अंधेरे और घनेरे
> लेकिन वादे है, जो करने पूरे
> और दूर जाना है, मीलो सोने से पहले
> और दूर जाना है मीलों सोने से पहले।

: १६ :

कोलम्बस और अगस्त्य के अशावतार

राहुलजी का नाम कब सुना, ठीक याद नही आता। जिस समय वह आर्यसमाजी थे और आर्यमुसाफिर विद्यालय मे पढते थे, तब के उनके एक सहपाठी पण्डित मुरारीलाल शास्त्री हमारे शहर मे हिन्दी के अध्यापक होकर आए थे। उनमे काफी स्नेह था। उन्हीसे अक्सर राहुलजी की कहानिया सुना करता था। एक दिन उन्हीके पास उनका एक पत्र देखा। 'प्रिय मुरारी' से आरम्भ होनेवाले उस पत्र मे शब्द बहुत थोडे थे लेकिन आत्मीयता उतनी ही गहरी थी। शास्त्रीजी बोले, "हमारे साथ पढे थे, लेकिन अब इतने बडे विद्वान हो गए है कि दुनिया घूम आए, अभी-अभी रूस से लौटे है। एक मैं हू कि अभी तक मास्टरी ही कर रहा हू।"

जिसने दुनिया घूमी हो, उससे आतकित होना स्वाभाविक था, फिर भी उस समय मैं यह नही सोच सका था कि राहुलजी सचमुच ही इतने बडे विद्वान है, कि भारत शास्त्रविद् प्रोफेसर सिलवा लेवी ने उनके साथ काम करने की इच्छा प्रकट करते हुए २ जनवरी, १६३५ के पत्र मे लिखा था, "खास तौर से मुझे खुशी होगी भिक्षु राहुल साकृत्यायन के साथ काम करने मे, क्योकि मैं भिक्षु राहुल की गणना बौद्धधर्म के वर्तमान सर्वश्रेष्ठ विद्वानो मे करता हू और उन्हे बौद्ध आदर्शों का एक प्रतिनिधि मानता हू।"

उनको साक्षात देखने का अवसर मुझे अक्तूबर १६३६ मे मिला। काशी मे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। अध्यक्ष थे पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और स्वागताध्यक्ष महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय। मच पर उस बार जितने महारथी उपस्थित थे, उतने शायद ही कभी हुए हो। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, श्रद्धेय माखनलाल चतुर्वेदी, आचार्य नरेन्द्रदेव, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास, महाप्राण निराला, काका

कालेलकर, पण्डित सुदर्शन तो थे ही, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद और महाकवि हरिऔधजी भी आये थे। नवयुवको के प्रतिनिधि थे, जैनेन्द्रकुमार और भगवतीचरण वर्मा, और महापण्डित राहुल साकृत्यायन भी तो थे। तभी रूस से लौटे थे और भिक्षु के वस्त्र उतारकर गृहस्थ का रूप धारण किया था। रूस मे उन्होने जो विवाह किया था, उसको लेकर वह सबके मस्तिष्क पर छा गए थे। उस सम्मेलन मे उन्होने हिन्दी के समर्थन मे अत्यन्त उग्र भापण दिया था। धोती कुर्ते मे मडित, स्थूलता की ओर झुकता हुआ उनका विशाल शरीर, प्रखर ओजस्वी स्वर, उस विशाल सभा मे अदभुत रूप से सन्नाटा छा गया, ऐसा लगा जैसे ज्वालामुखी भभक उठा हो। तालियो की गडगडाहट मे जो विजयनाद गूजा, उसने मेरे मन को अभिभूत कर दिया। सोचता रहा, यही है वह महापण्डित राहुल साकृत्यायन, जिनकी अगाध विद्वत्ता और अटूट साधना की कहानी जन-जन की जिह्वा पर है!

राहुलजी पन्द्रह सोलह वर्प की आयु मे ही घर से भाग निकले थे। उन्हीके शब्दो मे, "मैं उर्दू मिडिल का विद्यार्थी हू। अपने नाना के पास से भागकर यहा आया हू। मेरे नाना हैदराबाद दक्षिण में फौज मे नौकर थे। अब वह बूढे हो चुके हैं। अक्सर नानी को अपनी यात्राओ का हाल सुनाते रहते हैं। इससे मेरे मन मे भी यात्रा करने की धुन समाई, इसलिए यहा भाग आया हू। उर्दू की किताब मे मैंने पढा है—

सैर कर दुनिया की गाफिल
ज़िन्दगानी फिर कहां,
जिन्दगानी गर कुछ रही तो
नौजवानी फिर कहां।

इसलिए घर मे दुनिया की सैर करने के लिए निकल पडा हू।"

घर से यह भागना ही उनके लिए वरदान सिद्ध हुआ, क्योकि वहुत शीघ्र यह भागना दौडने मे बदल गया। भागो नही, दौडो, अर्थात पलायन मत करो, प्राप्त करो। वहुत-से लोग दुर्गम यात्राए करते हैं, लेकिन उन पर लाखो रुपये खर्च करते है और सैकडो व्यक्ति साथ होते है, लेकिन राहुलजी के पास सम्भवत सौ रुपये भी नही थे, आदमी की

तो वात ही क्या है । उन्हे तो तत्कालीन भारत सरकार से तिव्वत जाने की अनुमति तक नही मिली थी, लेकिन राहुलजी हार जाते तो 'राहुल' कैसे बनते ? प्राण हथेली पर रखकर वह ऐसे दुर्गम मार्गो से, जिन पर मानव के कभी चरण-चिह्न भी नही पडे थे, वेश बदलकर ज्ञान की खोज मे भटकते फिरे । यह उनकी अदम्य इच्छा-शक्ति और अद्‌भुत साहस का परिचायक ही है । इन यात्राओ से राहुलजी की मात्र घुमक्कड वृत्ति ही सन्तुष्ट हुई हो, यह वात नही । उन्होने सस्कृत के अनेक बौद्ध ग्रन्थो का, जो लुप्त थे, पता लगाया । धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त, ज्ञानश्री, नागार्जुन, आसग, वसुबन्धु, रत्नाकर शान्ति, रत्नकीर्ति, भव्य और गुण-प्रभु जैसे विद्वानो की कीर्ति को अमर किया ।

वहुत कम लोग जानते है कि राहुलजी को इन ग्रन्थो का उद्धार करने मे कितना परिश्रम करना पडा था । पचास हजार श्लोक स्वय उन्होने नकल किए और लाखो श्लोको के फोटो लिये । इन्ही यात्राओ मे उन्होने हिन्दी साहित्य के इतिहास को दो शताब्दी और पुराना कर दिया । उन्होने सरहपा नाम के ऐसे कवि को खोज निकाला, जिसने सन ८५० मे हिन्दी के दोहे लिखे थे ।

उनको लेकर ऐसी-ऐसी रहस्यमय कथाए सुन चुका था कि निर्णय न कर पाया कि कौन-सा रूप सत्य है । ईश्वर जैसे नाना रूपो मे अस्ति-नास्ति का खेल खेलता है, ऐसे ही राहुलजी के गुण इतने परस्पर विरोधी थे कि मानव मन की विचित्रता मुखर हो उठती थी । भदन्त आनन्द कौसल्यायन जव उनकी चर्चा करने लगते तो जैसे कोई वीतरागी योगी अन्तर मे उतर आता । बन्धुवर नागार्जुन उनके जिस रूप का वर्णन करते वह उस ऐश्वर्यशाली राजा का होता था, जो श्रापग्रस्त होकर फिर से पृथ्वी पर आ गया है । तीसरे बन्धु उनके स्नेह और विनय की चर्चा इस प्रकार करते कि मैत्रेय की प्रतिमा साकार हो उठती । उनकी भयकर अति-साहसिक यात्राओ की रोमाचकारी कहानिया सुनते-सुनते ही मै उनकी ओर आकर्षित हुआ था । उनके लिखे हुए महान ग्रन्थो की सूची याद रखना किसी के गणित की अच्छी-खासी परीक्षा हो रहती है । कोलम्बस, स्काट, अगस्त्य, विश्वामित्र और शकर सभी

के वह अशावतार थे । इतने सारे अद्‌भुत गुणो की एक व्यक्ति मे कल्पना करना असम्भव-सा लगता है । लेकिन राहुलजी सचमुच वज्र और कुसुम, कृष्ण और शुक्ल, इन सबका एक वृत्त थे, तभी तो वह मानव थे, देवता नही, जो केवल गुणो के ही पुज होते हैं । चान्द्रमास मे शुक्ल-पक्ष के साथ कृष्ण-पक्ष जैसे अनिवार्य रहता है, वैसे ही उनकी दुर्बलताए उनके लिए अनिवार्य थी । वह दुर्बलताए अवसर प्रखर भी हो उठी है ।

जब पहली बार उनसे साक्षात्कार हुआ, तब मुझे ऐसा नही लगा कि किसी महापुरुष से मिल रहा हू । वह तो एक अनुज का अपने अग्रज से स्नेह पाने जैसा था । उनके विचार अत्यन्त उग्र थे और दृढता और भी अद्‌भुत थी । हिन्दी के प्रश्न पर उन्होने कम्यूनिस्ट पार्टी से बहिष्कृत हो जाना स्वीकार कर लिया था । आकाशवाणी पर वह इसीलिए कभी बोलने नही गये, क्योकि उनका अनुबन्ध हिन्दी मे नही रहता था । इसी कारण आज उनकी वाणी हमारे पास सुरक्षित नही रह सकी ।

डरते-डरते एक बार उनसे एक लेख मागा था । सस्ता-साहित्य-मण्डल से प्रकाशित होनेवाला मासिक पत्र 'जीवन साहित्य' विशुद्ध गान्धी-विचार का पत्र है । उसके लिए राहुलजी से लेख मागना दु साहस ही कहा जा सकता है, परन्तु तुरन्त उत्तर आया

हर्नक्लिफ, हैपी वेली,
मसूरी ६-३-५३

प्रिय प्रभाकरजी,

पत्र मिला । आशा है मसूरी से चकराता का विचार अब भी रखते होगे । बस चकराते के रास्ते पर ही मैं हू । हाल की नेपाल-यात्रा का लेख तो भेज सकता हू, किन्तु स्वभाव से लाचार कही-कही छीटे हैं । यदि चाहे तो भेज दू । चाहे तो नरम भी कर सकते हैं । वह पीछे पुस्तक मे तो जायगा ही । पैर ठीक हो गया है ।

—राहुल

इस छोटे-से पत्र मे उनके दोनो रूपो की झलक मिल जाती है ।

अपनी उग्रता के बावजूद दूसरे के साथ वह अधिक-से-अधिक दूर तक चलने का प्रयत्न करते थे। यह गुण आज कितना विरल है। उनसे बातें करते समय कोई यह जान ही नही सकता था कि वह अपने मे विरोधी विचार रखनेवाले व्यक्ति के सामने है। मसूरी मे एक बार मैं वहा के सुपरिचित डाक्टर गोयल के पास ठहरा था। एक दिन राहुलजी घूमते-घूमते मेरे साथ ही वहा आगए। डाक्टरसाहब अत्यन्त सहृदय व्यक्ति है, लेकिन आलोचक भी उतने ही खरे हैं। मैंने उन दोनो का परिचय करा दिया और डाक्टरसाहब की वाणी जैसे उन्मुक्त हो उठी। धाराप्रवाह रूप मे वह बोलते चले गए। मैं काप उठा कि कही कोई अप्रिय बात न हो जाय। लेकिन राहुलजी मुस्कराते रहे और अन्त मे एकदम नये विषय की चर्चा करके उन्होने मेरे सासत मे फसे प्राणो को जैसे राहत बख्शी।

कई वर्ष पूर्व अपने जन्म-प्रदेश मे बोली जानेवाली कौरवी भाषा के सम्बन्ध मे अनुसधान करने का विचार किया था। उसीको लेकर राहुलजी से पत्र-व्यवहार हुआ। उन्होने लिखा

हैपी वेली,
मसूरी, २३-३-१९५४

प्रिय प्रभाकरजी,

चिट्ठी मिली। विशेष बात तो मिलकर ही हो सकती है। आपका सकल्प बहुत अच्छा है। लिखित-अलिखित, शिष्ट और लोक साहित्य सबको इतिहास मे लाना चाहिए। 'है' और 'रोट्टी बेट्टी' कौरवी की सीमा है। नगर की नही, गाव की भाषा असली भाषा है। मुरादाबाद के गाव मे कौरवी नही बोली जाती। बिजनौर के बहुत से गावो मे जरूर बोली जाती है।

मैं एक मास बाहर जा रहा हू। मई के तीसरे सप्ताह मे लौटूगा।

—राहुल

मसूरी जाकर मिला। जैसे वह तैयार ही बैठे हो। नक्शे-पर-नक्शे निकालकर उन्होने मुझे कौरवी भाषा के भूगोल से परिचित कराया। बताया कि मुझे कहा-कहा जाना चाहिए। किन तवारीखो का उपयोग

करना चाहिए, किस प्रकार के व्यक्तियो से मिलना चाहिए, अबतक किन किन व्यक्तियो ने इस सम्बन्ध मे काम किया है या कर रहे है ।

ये सब सूचनाए कुछ ही क्षणो मे मुझे उपलब्ध करा दी। लेकिन मेरा दुर्भाग्य कि अचानक आकाशवाणी से बुलावा आ जाने के कारण मैं इस काम को हाथ मे न ले सका । लेकिन उनके मस्तिष्क के प्रकोष्ठ मे मेरा नाम अकित होकर रह गया और जब पूर्णिया के जीवन को लेकर भाई फणीश्वरनाथ 'रेणु' का उपन्यास 'मैला आचल' प्रकाशित हुआ तो वह मिलते ही बोले, "कौरवी भाषा मे 'मैला आचल' के जोड का उपन्यास तुम कब लिख रहे हो ? तुम्हे लिखना चाहिए ।"

लेकिन मैं उनके इस आदेश का भी पालन नही कर सका । अपनी बोली मे मात्र एक एकाकी नाटक लिखकर ही मेरा उत्साह चुक गया। यद्यपि मेरा मोह उसमे था और उनकी पुस्तक 'आदि हिन्दी की कहानिया' ने मुझे प्रभावित भी किया था तथापि अहिन्दी-भाषियो मे काम करते-करते मैं इस निश्चय पर पहुचा था कि अभी हमे हिन्दी का एक ऐसा सार्वदेशिक रूप निश्चित करना है, जिसे सभी अहिन्दी-भाषी आधार रूप मे स्वीकार कर सके ।

राहुलजी ने हिन्दी को जितना कुछ दिया, वह किसी एक व्यक्ति की क्षमता से बहुत अधिक है । वह अपनी अगाध विद्वत्ता, व्यापक ज्ञान, अद्भुत मेधाशक्ति, अतिसाहस और कार्य करने की अटूट क्षमता के कारण तो अमर रहेगे ही, लेकिन इसलिए निश्चय ही चिरस्मरणीय रहेगे कि वह विनय के अवतार थे । "विद्या विनयेन शोभते" के वह मानो साकार प्रतीक थे । विद्वत्ता और यश के बोझ को वह कभी स्वीकार नही कर सके। जेल, जगल और राजमहल सब कही वह एकरस रहते थे । ३६ भाषाए जाननेवाले इस महापण्डित का सरस आतिथ्य किसी अभागे ने ही नही पाया होगा । वह सम्भवत पहले व्यक्ति थे, जिनका कार्यक्षेत्र प्रान्त और देश की सीमाओ को लाघकर विश्व के अनेकानेक देशो मे फैला पडा है । यूरोप और एशिया से अनेक विश्व-विद्यालयो मे वह सफलतापूर्वक अध्यापन का काम कर चुके है । मुक्त-कण्ठ से उनकी प्रशसा भी पाई है, कर्नल सज्जनसिंह ने अपनी 'लद्दाख

यात्रा की डायरी' मे एक स्थान पर लिखा है कि जन-कोलाहल से बहुत दूर दुर्गम-पर्वत मालाओ मे रहनेवाले व्यक्तियो ने उन्हे बताया था कि आप लोग हमसे इतना परहेज करते हैं, लेकिन कई वर्ष पहले यहा राहुल नाम का एक आदमी आया था, जो हमारे साथ ही खाता-पीता और बोलता-बतियाता था।

सचमुच उनका परिवार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' था। इसी अनुपात से उन्होने लिखा भी है और यह भी सही है कि अनुपात की प्रचुरता गहनता को कम कर देती है। वह दोष उनके ललित साहित्य मे है। कैसे भूल सकता हू कि मसूरी मे उन्होने मुझे एक कहानी सुनाकर जब राय पूछी तो मैं धर्म-सकट मे पड गया था। लेकिन उन्होने तुरन्त ही कोई दूसरा विषय उठा लिया।

उस अकेले व्यक्ति ने नाना देशो मे जाकर जो अलभ्य बौद्ध ग्रन्थ प्राप्त करके हिन्दी को दान दिए है, वह एक ऐसी देन है, जिसकी तुलना नही हो सकती। वह वस्तुत नई राहो के अन्वेषक थे। विद्वान थे।

उन्होने 'बुद्धचर्या' तथा 'मध्य एशिया का इतिहास' (अकादमी पुरस्कार प्राप्त) जैसी पुस्तके लिखी, परन्तु धर्मकीर्ति के अप्राप्य ग्रथ 'प्रमाणवार्तिक' का पता लगाकर उन्होने जो अद्भुत कार्य किया, उसकी प्रशसा रूस की प्राच्य परिषद के प्रधान डाक्टर चर्वास्की ने मुक्त कण्ठ से की थी—"राहुलजी ने धर्मकीर्ति के ग्रन्थो का पता लगाकर उन्हे प्राप्त करने का जो आश्चर्यजनक कार्य किया है, उसका समाचार पढकर हम लोगो को अत्यन्त हर्ष हुआ। धर्मकीर्ति भारतवर्ष के कण्ठ थे। अबतक हमे उनके ग्रन्थो के अनुवाद चीनी और तिब्बती मे पढने पडते थे, पर अब तो मूल ग्रन्थ ही मिल गया। मैं और मेरे सहायक डाक्टर वस्ट्रीकोव भारतवर्ष पहुचकर उन ग्रन्थो को देखना चाहते है।"

उनकी इन खोजो का अभीतक पूरी तरह मूल्याकन नही हुआ है। हिन्दी के भण्डार को उन्होने कितना सम्पन्न किया, जब इसका सही पता लगेगा तो विद्वान लोग चकित रह जायगे। याद है कि ६ जून, सन ४० को जब पजाब मे मेरी तलाशी हुई थी तो राहुलजी की एक

पुस्तक 'साम्यवाद ही क्यो' को लेकर सी० आई० डी० वाले बहुत प्रसन्न हुए थे। राहुलजी के राजनैतिक विचार अत्यन्त उग्र थे। वह कई बार जेल भी गये। भिक्षु थे, लेकिन स्वतन्त्रता की पुकार उन्हे उस बन्धन मे न बाध सकी। व्यक्तिगत मोक्ष उन्हे प्रिय न था। वह तो "कामये दु ख तप्तानाम प्राणिनामार्ति नाशनम्" के उपासक बुद्ध, शकर, रामानुज और रामानन्द की श्रेणी के विद्रोही नरपुगव थे। इसीलिए वह कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य हो गए थे। इन सब कारणो से उनकी लिखी पुस्तक का मेरे पास रहना खतरनाक माना गया। लेकिन जब मैंने उन्हे राहुलजी की कहानी सुनाई, बताया कि हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक है, बौद्ध धर्म के विद्वान है, अनेक अमूल्य लुप्त ग्रन्थो का उन्होने उद्धार किया है, तब कही इन्स्पेक्टर महोदय ने पुस्तक वापस की।

राहुलजी के जीवन मे निरन्तर सघर्ष रहा है। उनके अन्तर मे सदा अग्नि की ज्वाला प्रज्वलित रही है। वस्तुत वह ज्वालामुखी थे और अन्तर की वह ज्वाला उन्हे कही भी शान्ति मे नही बैठने देती थी। एक तरफ वह इतने वीतराग थे कि पूरा भोजन कर लेने पर भी वह यह न जान पाते थे कि दाल मे नमक है या नही, दूसरी ओर सदा कुछ करने को वह अत्यन्त व्यग्र-व्याकुल रहते थे। कभी ज्ञान की खोज मे दुर्गम मार्गो पर भटकते तो कभी दासता मे मुक्ति पाने के लिए जेल जाते। एक ओर वह स्नेह से लबालब भरे थे, दूसरी ओर अन्याय का विरोध सहना उनके लिए असम्भव था। इसीलिए लिखने मे वह कभी-कभी अत्यन्त उग्र और असहिष्णु तक हो उठते थे। वह इस कदर विरोधाभास का प्रतीक बन गए थे कि लोग विश्वास नही कर पाते कि राहुलजी सचमुच एक विद्वान पुरुष है या एक आन्दोलनकर्ता है या एक सरल प्राण योगीमना प्रेमी मानव है। वस्तुत वह सब-कुछ थे। वह एकसाथ बैठकर कई ग्रन्थ लिखवा सकते थे। उनका अन्तर विश्व-कोश के समान था। उनका हृदय मित्र का हृदय था। उनका मस्तिष्क निरन्तर ज्ञान की प्यास से तडपता रहता था। वह जहा कही भी होते, उसकी तह मे चले जाते थे। उस समय जब वह न कम्यूनिस्ट थे, न बौद्ध थे, आर्यसमाजी भी नही थे, केवल देवी के भक्त थे, उस समय की

उनकी अदम्य लालसा उन्ही के शब्दो मे देखिये, "देवी मुझ पर प्रसन्न न हुई, यद्यपि मैंने नवरात्रो मे विधिवत पुरचरण किया था। अवश्य ही इसमे मेरा ही कोई दोष है। मेरे ही पाप हैं, जिनके कारण मुझे देवी के दर्शन न हो सके। अव मै धतूरा खाकर प्राण दे रहा हू। जिसे यह चिट्ठी मिले वह मेरी मृत्यु का असली कारण जानले, इसीलिए इतना लिख दिया है।"

यह विश्व का सौभाग्य था कि वह विष उनकी जान न ले सका। लेकिन क्या यह इस वात का प्रमाण नही है कि उनकी हर इच्छा के पीछे वह उत्कट इच्छाशक्ति थी, जो मनुष्य को स्रष्टा के पद तक पहुचाती है? वह दृढ विश्वास था, जो पौरुष का आधार है?

फिर याद आता है दिसम्बर १९४७ का बम्बई का हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन, जिसके वह सभापति थे। हिन्दी के लिए उन्होने कम्यूनिस्ट पार्टी से भी त्यागपत्र दे दिया था। जिस बात को वह एक-बार भी सत्य मान लेते थे, उसके लिए वह कोई भी और कैसा भी त्याग करने से नही हिचकते थे। उसी सम्मेलन मे कुछ मनचले युवको की इच्छा हुई कि किसी फिल्म अभिनेत्री से मिला जाय। सुपरिचित नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी उन दिनो फिल्मो मे काम कर रहे थे। उन्होने एक ऐसी स्नेहगोष्ठी का प्रवन्ध किया था, जिसमे एक अभिनेत्री कृपा कर पधारी थीं। नजाकत और नफासत का प्रदर्शन उनमे अधिक था, सौन्दर्य-बोध कम, केवल रूप का ही नही, व्यवहार का भी। परि-चय होने पर बोली, "अच्छा, आपकी सभा समुद्र के किनारे हो रही है। मैं इधर से गुजरी तो समझी कोई पण्डितजी कथा वाच रहे हैं।"

वहुत चोट खाई उस दिन। बहुत देरतक सोचता रहा, ये चका-चौंध की दुनिया मे रहनेवाले हिन्दी को कथा की भाषा और हिन्दी के विद्वानो को कथावाचक ही समझते हैं। लेकिन जव आवेश कुछ शान्त हुआ तो मैंने अनुभव किया कि इस वेचारी का इतना कसूर नही है। राहुलजी जव धोती कुर्ता पहनकर और पलौथी मारकर वैठते हैं तो ऐसा लगता है जैसे कोई श्राद्ध खानेवाले पण्डितजी कथा कह रहे हों। उस वेचारी अभिनेत्री को उतनी दूर से उनकी आखो मे झाकने की

कहा फुर्सत रही होगी ?

मुझे उन राहुलजी की भी याद है, जो किसी स्टेशन पर रातभर पडे रहे थे । सवेरे देखता हू कि एक हाथ मे जलेबी का दौना और दूसरे मे चाय लिये वह मन्थर गति से चले जा रहे हैं । पूछा, "किसके लिए लाये है ?" बोले, "वह कमला है न, मेरी सैक्रेटरी । " उसके कुछ दिन बाद ही मसूरी से एक मित्र का पत्र आया कि राहुलजी ने कमलाजी से शादी करली है । कुछ लोगो ने बहुत नाक-भौ सिकोडी, पर जो अग्निपुज है उसे नारी के सरस स्पर्श की आवश्यकता रहती ही है । प्रश्न केवल सीमा का है । गति मे विश्वास रखनेवाले राहुलजी शायद यही चूक जाते हो । साहित्य मे निश्चय ही गति के इस रिकार्ड ने उनकी गहनता पर आक्रमण किया है, विशेषकर कथा-साहित्य पर ।

उन्होने इतना काम किया, इतनी पुस्तके लिखी, इतने ग्रन्थो का उद्धार किया, इतने कोशो का सम्पादन किया, इतनी भाषाए वह जानते थे कि आनेवाली पीढिया उस पर सरलता से विश्वास नही करेगी । उनकी सरल और प्रवाहमयी सस्कृत की प्रोफेसर लेवी ने बडी सराहना की थी, "मुझे सन्देह है कि बहुत दिनो से, कम-से-कम एक शताब्दी से, नेपाल के पण्डित अमृतानन्द के जमाने से कोई भी बौद्ध विद्वान ऐसी सुन्दर भाषा नही लिख सका था । वह भाषा जिसे अश्वघोष, नागार्जुन और वसुबन्धु ने ऐसे अधिकारपूर्ण ढग से व्यवहार किया था । आपका 'अभिधर्म कोश' आपकी सस्कृत योग्यता का एक और प्रमाण देता है । आपकी भूमिका, आपका विशाल अध्ययन और आपकी बहुभाषा विद्वत्ता सूचित करती है ।"

वह बहुमुखी प्रतिभा के साथ सहस्र हाथोवाली क्रिया-शक्ति के भी स्वामी थे । दुःख यही है कि विचार-भेद के कारण भारत सरकार उनका पूरा-पूरा उपयोग न कर सकी । फिर भी उनका कार्य-क्षेत्र देश की सीमाओ को लाघकर विश्व के अनेक भागो मे फैला पडा है । इतनी कर्तव्यनिष्ठा, इतनी जागरूकता, इतनी विद्वत्ता और इतनी सतत साधना, इन सबके ऊपर प्रगाढ आत्मीयता से ओतप्रोत सहज सरलता और राख के नीचे आग की तरह दबी रहनेवाली उनकी उग्रता, इन

सबके रहते उनका स्वास्थ्य खराब न हो जाता तो और क्या होता ? व्यक्तिगत जीवन की कुछ और भी ऐसी बातें रही, बचपन मे ही शरीर पर इतनी चोटें पडी कि नाना प्रकार के रोग केवल समय की टोह लेते रहे। डायबटीज और फिर दिल की बीमारी ने उन्हे ऐसा घेरा कि वह उनसे भाग बचने का मार्ग न खोज सके। यह तिब्बत का मार्ग नही था। इसी कारण उन्हे लका छोडकर भारत लौट आना पडा और उनकी स्मृति धीरे-धीरे क्षीण होने लगी।

अन्त मे वह उसे खोकर उस शिशु के समान हो गए जो ज्ञान की पहली सीढी पर चढने के प्रयत्न मे लडखडाता ही रहता है। लेकिन शिशु के शरीर मे शक्ति निरन्तर बढती है, जबकि राहुलजी के वृद्ध शरीर की शक्ति निरन्तर क्षीण हो रही थी। उनके अन्तिम दिनो की कहानी इसीलिए अत्यन्त करुण और मार्मिक है। जिस प्रकार उनकी कार्यशक्ति और विद्वत्ता पर सहसा विश्वास नही आता, उसी प्रकार अन्तिम दिनो की समर्थ की उस असमर्थता पर भी विश्वास नही आता।

अपनी अस्वस्थता मे जिसने भी उन्हे देखा, यह अवश्य अनुभव किया होगा कि उनकी शक्ति और उनकी दुर्बलता दोनो ही उनकी उपचेतना मे मुखर हो उठी थी। बच्चो के प्रति उनकी ममता, परिचितो के प्रति उनके करुणाश्रु, समर्थ की वह असमर्थता अत्यन्त व्याकुल कर देनेवाली थी। जिसने युग और सीमा के ऊपर होकर वर्त्तुल बनाया था वह निकटस्थ को भी नही पहचान पाता था। याद है कि रूस जाने से पूर्व कई व्यक्ति उनके पास बैठे स्मृति जगाने का बार-बार असफल प्रयत्न कर रहे थे और १७० ग्रन्थो का रचयिता निरीह भाव से बार-बार यही कह रहा था, "भैया, हमने दो पुस्तकें लिखी है, यह देखो।"

बन्धुवर जगदीशचन्द्र माथुर ने सहसा कहा, "राहुलजी, आपको याद है कि मैं आपसे पहले-पहल मुजफ्फरपुर जेल मे मिला था। जब आप लिख रहे थे।"

सहसा शिशु राहुलजी की आखें चमक आई। बोले, "भैया, बडी पुरानी याद दिला दी।"

स्मृति जैसे किसी अनजाने क्षण मे स्फुलिंग की तरह चमक उठती

थी, बस इतना ही।

महामना मालवीयजी की असमर्थता भी हमने देखी है, लेकिन राहुलजी की असमर्थता देखकर तो हृदय कचोट उठता था। इतने सज्ञाहीन हो गए थे कि अपनी पत्नी कमलाजी को बेटी कहने लगे थे।

बहुत बचपन मे उनका एक विवाह हुआ था, लेकिन उस पत्नी को वह कभी स्वीकार नही कर सके। अपनी अटूट साधना के बल पर वह बहुत ऊचे उठ गए, लेकिन वह कसक उन्हे सदा पीडा देती रही। उस परित्यक्ता की, कहते है, उन्होने यथासम्भव सहायता भी की, लेकिन जैसे वह अपने को कभी क्षमा नही कर सके। कुछ वर्ष पूर्व जब वह उस प्रदेश मे गये थे, उससे मिले थे और उसकी दुर्दशा देखकर वह उसके पास भी नही ठहर सके थे। बाहर आकर उन्होने कहा था, "मेरे ही कारण इस नारी की यह दुर्दशा हुई है।" यही पश्चात्ताप उनकी उपचेतना मे जड जमा बैठा था और इसी की छाया उनके अन्तिमकाल मे जैसे उनके ऊपर मडराती रही हो। योगभ्रष्ट महापुरुषो के साथ ऐसा ही होता है। बुद्ध बनने से पूर्व नाना बोधिसत्वो को नाना कष्ट उठाने पडे। गाधीजी को अनेक बार कटु शब्द कहकर भी राहुलजी ने अन्तिम समय मे 'बोधिसत्व' कहकर उनका अभिनन्दन किया था और पश्चात्ताप-स्वरूप सिगरेट पीना छोड दिया था। हम भी भारतीय दर्शन और साहित्य के, विशेषत हिन्दी के इस बोधिसत्व का शत-सहस्र बार अभिनन्दन करते है।

: २० :

बर्मा का एक भारतीय व्यापारी

मझोला कद, स्थूलता की ओर झुकता शरीर, किंचित श्यामल गौर वर्ण, यमुना की तरगे गगा के जल मे धसती हो, ऐसे मुख पर तरलता पर आवेग-रहित सजगता और कर्मठता की मूर्त्ति पर शोर

का आभास तक नही। कुशल व्यापारी पर रुक्षता-हीन। सशक्त कलाकार पर न रूप-वैचित्र्य, न अहं का विस्फोट। प्रवासी भारतीयों के प्रमुख परन्तु परम शान्त—ऐसे श्री सत्यनारायण गोयनका का न जाने कौन-सा रूप सत्य है। जन्म से मारवाडी, पर अब एकान्त रूप से बर्मी हैं। उस दिन जब रगून जाना हुआ और कस्टम आदि से छुट्टी पाकर हवाई-अड्डे से बाहर निकले तो भारतीयो की एक छोटी-सी भीड मे से बर्मी वेशधारी एक सज्जन लपककर बाहर आये और तपाक से बोले, "विष्णुजी, मुझे तो पहचानते होगे ?"

और वह हँस पडे और मैंने देखा—अरे, यह तो सत्यनारायणजी है। वही तरल नयन, यूरोप जाते समय एक बार भाईसाहब के साथ घर आये थे और मुझ पर उनका पहला प्रभाव यही पडा था कि यह व्यक्ति अपने मे सीमित सौम्य शान्त है। न है उत्फुल्लता का आवेग, न है तत्परता की द्रुतगति। मैंने कहा, "आप तो इतने अनजाने नही हैं, आप को क्यो न पहचानूगा ?"

सब लोग हँस पडे और उसके बाद हमने पाया कि बर्मा-प्रवास के हमारे आतिथेय यही श्री सत्यनारायण गोयनका है। फिर तो मुगल-स्ट्रीट पर उनके भवन की ९५ पैडियोवाली चौथी मजिल पर इतनी बार चढना-उतरना हुआ कि अपरिचय को सात पाताल मे भी पनाह नही मिली।

गोयनकाजी पहले प्रभाव मे ही सौम्य-शान्त नही जान पडते। वह सचमुच ही चुपचाप काम करने मे विश्वास करते है। उफान-आवेग उनके स्वभाव के विरुद्ध है। काम करने की उतावली भी होगी तो मुख पर व्यस्तता के भाव न होगे, बल्कि एकाग्रता के साथ तेज-तेज कदम जाते दिखाई देंगे। कोई मिल गया तो आखो मे वही मुस्कान चमक उठेगी। खुलकर न हँसते हो, सो बात नही है, लेकिन प्रदर्शन से उन्हे नफरत है। वह कितने व्यस्त रहते हैं, इसकी कल्पना सरल नही है। उनकी सफलता का कारण यही है कि वह जो कुछ करते है, उसमे डूब जाते है। ऊपर दिखाई नही देते। वह व्यापारी है और मारवाडी व्यापारी। मारवाडी को व्यापार घुट्टी मे पिलाया जाता है। हमने

उनको व्यापार की गद्दी पर बैठे देखा है। बड़ूला मिल के कम्बलो की दूकान की दुछत्ती मे जब वह बैठते हैं तो टाइपिस्ट की 'टिप-टिप' के अतिरिक्त वहा और कोई शब्द नही होता। बीच-बीच मे वह पुकारते है—'टाइपिस्ट'। और 'यस सर' कहती हुई कृपकाय श्यामवर्ण लडकी तुरन्त कापी लेकर आ जाती है। उसे पत्र लिखा कर तथा उचित निर्देश देकर वह फिर फाइलो मे खो जाते है या आगन्तुक व्यक्तियो से बाते करने लगते है। लेकिन सब-कुछ यन्त्रवत, घडी की सुई जैसे बस चलती ही जाती है, ठहरकर देखती नही, क्योकि ठहरी और मरी। जितनी तन्मयता और दक्षता से वह क्रय-विक्रय की बाते करते है, उतनी ही तन्मयता से वह कविता भी सुना सकते है। भले ही वह 'ऊचे कवि न हो' पर उस दिन मेघाछन्न आकाश के नीचे, सान्ध्य प्रकृति के सान्निध्य मे, रगून की एक झील मे नौका विहार करते समय वह डाड भी चला रहे थे और कविता-पाठ भी कर रहे थे, "ओरी-ओरी ओ इरावदी, मेरे ब्रह्मदेश की भागीरथी।" उस समय उस इन्द्रधनुपी वातावरण मे यह कविता सुनकर मन जैसे उमग-उमग आया। लेकिन अखिल बर्मी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर उनके जिस रूप के दर्शन हुए वह एकदम अनोखा था। देखते क्या है कि वह न केवल सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष है, बल्कि अभिनेता भी है। पहले दिन बोले, "विष्णुजी, डाक्टरजी (४०२ मुगल स्ट्रीट के डाक्टर ओमप्रकाश) कहते हैं, कुछ होना चाहिए।"

"मैं समझा नही, क्या होना चाहिए ?"

"आपके पीछे हमने आपका नाटक खेला था। अब आप लोग आये हैं तो वह आपका कोई नाटक खेलना चाहते है।"

"अब ! दो दिन मे नाटक ?"

'जीहा ! आपका एक मोनोलॉग है—'नही, नही, नही' उसे ही प्रस्तुत करने का निश्चय किया है।"

"इतनी जल्दी ! कौन करेगा ? मोनोलॉग प्रस्तुत करना बहुत कठिन काम है।"

तब धीरे-से मुस्कराकर बोले, "मैं ही करूगा।"

देखता रह गया । सुना था व्यापारी गायनका साहित्य मे रुचि लेते हैं । उनका अपना छोटा-सा पुस्तकालय भी देखा । बर्मा के सास्कृतिक इतिहास मे उनके प्रेम का परिचय भी पाया । यह भी जान चुके थे कि वह वहा की लोककथाओ का अध्ययन कर रहे है । कविता भी सुनी थी और यह भी मुना था कि वह नाटको मे भाग भी लेते है ।। पर यह मोनोलॉग को मच पर प्रस्तुत करेंगे और वह भी दो दिन मे ! जो परिचित हैं, वह जानते है कि मोनो एक्टिग कितना कठिन है । कब याद करेंगे, कब रिहर्सल होगी और इन दो दिनो मे वह बार-बार कहते रहे, "अभी तो याद ही नही हुआ ।" लेकिन तीसरे दिन ठीक समय पर जब पर्दा उठा और सत्यनारायण गोयनका ने मच पर प्रवेश किया, विश्वास करना होगा तब पूरे तीस मिनट तक उन्होने जनता को मन्त्र-मुग्ध किए रखा । वह नही हँसे, लेकिन जनता हँसी । वह उद्विग्न नही हुए, लेकिन जनता का हृदय उछल-उछल पडा । उन्होने शेर पढे, जनता 'वाह-वाह' कर उठी । एक शब्द भूले नही, एक क्षण झिझके नही । एक साथ शराबी, शराब से परहेज करनेवाले व्यक्ति और प्रेमी का सफल अभिनय किया ।

मै विश्वास नही कर सकता था कि यह रेडियो मोनोलॉग मच पर इतनी सफलता के साथ प्रस्तुत हो सकता है । एक ओर स्वागत समा-रोह मे उन्होने हमे एक रेडियो-रूपक का टेप रिकार्डिंग सुनाया । स्वा-धीनता सग्राम के सम्बन्ध मे यह मेरा ही रेडियो रूपक था । गत वर्ष रगून रेडियो से डाक्टर ओमप्रकाश ने उसे प्रस्तुत किया था और सूत्र-धार का अभिनय किया था गोयनकाजी ने । सुनते-सुनते बार-बार आखें गीली हो आईं, बार-बार धमनिया फडक फडक उठी । हमारे देश के कुशल अभिनेताओ से किसी तरह भी उनका अभिनय कम नही था । कहूगा अधिक सयत इसीलिए अधिक प्रभावशाली था ।

अबतक सुनते आए थे कि इन देशो मे भारत से व्यापारी ही गये हैं, लेकिन रगून मे हमने कलाप्रिय भारतीयो का एक दल भी देखा । उन्होने 'बर्मा भारतीय कला-केन्द्र' की स्थापना की है और इसका उद्देश्य है बर्मा मे भारतीय ललितकलाओ को जीवित रखना । प्रधान-

मन्त्री ऊ नू उसके अभिवावक है और महानिर्देशक हैं श्री गौतम भारद्वाज। अबतक वह लोग अनेक नृत्य-नाटको, एकाकियो, रेडियो रूपको के अतिरिक्त चिरकुमार सभा, स्वर्ग की झलक, काहे नीर बहाए, (पैसा पर आधारित) बिखरे मोती, कलिंग विजय (नवप्रभात पर आधारित), सब-कुछ उधार का, नादान भुगत करनी अपनी (नये हाथ पर आधारित) देर तो है पर अन्धेर नही, (जमाना पर आधारित), आदि-आदि बड़े नाटक भी पूर्ण सफलता के साथ प्रस्तुत कर चुके है। 'उधार का पति' तो हमारे सामने प्रस्तुत किया गया और उसकी अभिनय-दक्षता के हम साक्षी है। कही फूहड़पन नही, जरा भी अति नही। बर्मी दर्शको को लोटपोट होते हमने देखा। 'कलिंग विजय' मे गोयनकाजी ने सम्राट अशोक का अभिनय किया था, जिसकी स्वय प्रधानमन्त्री ऊ नू ने प्रशसा की थी। अभिनय-कला की भाति साहित्य मे भी उनकी गति है। उनका विश्वास है कि 'बर्मी और भारत के सास्कृतिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन और अटूट है। जबतक हिन्द महासागर की उत्ताल तरगें भारत और बर्मा के तटो का प्रक्षालन करती रहेगी, तबतक दोनो देशो का यह पावन सम्बन्ध अजर-अमर रहेगा।' इसी सम्बन्ध को पुष्ट करने के लिए उन्होने अपने घर पर ही बर्मा के अनेक प्रसिद्ध लेखको को इसलिए आमन्त्रित किया था कि हम उनसे मिल सके। यद्यपि वह गोष्ठी बहुत सक्षिप्त थी, तथापि एक-दूसरे को समझने की दिशा मे वह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। गोयनकाजी जैसे सास्कृतिक राजदूतो की जितनी आज आवश्यकता है, उतनी शायद पहले कभी नही थी।

गोयनकाजी व्यापारी है, कलाकार है, सीमित अर्थों मे राजनेता भी हैं। भारतवासियो की राजनीति के क्षेत्र मे उनका प्रभाव कम नही है। प्रधानमन्त्री ऊ नू[1] उनके नेता है। वह बर्मी है और सच्चे दिल से बर्मी सस्कृति के पोषक है। कमीज-धोती, कोट-पेंट के साथ बर्मी कमीज और लौंजी भी उन्हे खूब प्रिय है।

बर्मा मे हम लोग एक माह से ऊपर उनके अतिथि रहे। उनके सारे

---

१ अब स्थिति बदल गई है।

परिवार ने हमे स्नेह से सराबोर कर दिया। तब उनकी तत्परता और कार्यकुशलता देखते बनती थी। भोजन, भ्रमण, मनोरंजन, एक-एक विवरण उनकी दृष्टि मे रहता था। जैसा कि यशपालजी का स्वभाव है वह थोडे ही समय मे बहुत-कुछ देख लेना चाहते हैं, इसलिए सदा तत्पर रहते हैं। वह तुरन्त गोयनकाजी के पास पहुचते और कहते, "चलिये, चलिये आज ज़रा पगोडा देखें।" या कहते "बर्मी सिनेमा तो देखा ही नहीं, चलिये आज भवतददा (जीवन पर्यन्त) फिल्म देख आए।" और नही तो उन्हे उठाकर नदी किनारे ही घूमने चले जाते। याद नही पडता कभी उन्होने 'नही' कहा हो। रात को देर-देर तक नदी के तट पर घूमते हुए साहित्य की चर्चा करते या ऊपर के कमरे मे ताश खेलते या गप्पें हाकते। लेकिन कभी एक क्षण के लिए भी उन्होंने इस बात का पता नही लगने दिया कि उनके सिर मे कभी-कभी ऐसा दर्द उठता है, जिसका कारण बर्मा, भारत और यूरोप का कोई भी डाक्टर नहीं बता सका। उसके लिए उन्होने 'विसपासना रिसर्च एसोसिएशन' नामक एक यौगिक केन्द्र मे जाकर काफी समय तक एकान्त साधना भी की। उनका खान-पान, आचार-व्यवहार इतना सयत और नियमित है कि अचरज होता है। लेकिन बर्मी होली के अवसर पर चार दिन तक वह हमारे साथ जिस प्रकार आनन्द और मस्ती मे बहते रहे, जिस उन्मुक्तता से हँसते-खेलते रहे, उससे लगता था जैसे इनके भीतर का व्यापारी कही तिरोहित हो गया है। शायद यह उनके अतिथि-सत्कार का एक अग था। लेकिन देश और विदेश मे उनके अनेक मित्र हैं। वह सभी का आतिथ्य इसी प्रकार उन्मुक्त होकर करते है और मित्र ही क्यो, अपरिचित को भी उनके घर मे वैसा ही आदर और स्नेह मिलता है। हम भी तो अपरिचित ही थे। परिचय तो इसी स्नेह के माध्यम से आया।

जैसा कि ऊपर कहा, गोयनकाजी जब जो कुछ करते है, उसमे डूब जाते है, उसी के हो जाते हैं इसीलिए वह सच्चे मित्र हैं। वह शब्दो मे नही, कर्म मे विश्वास करते है। इसीलिए उन पर विश्वास किया जा सकता है और इसलिए वह बर्मा मे भारतीयो के स्तम्भ है, जिन पर भारतीयो को विश्वास है, तो बर्मी सरकार को भी पूरा भरोसा है।

इसीलिए यूरोप और भारत मे जाननेवाले अनेक व्यापार प्रतिनिधि मण्डलो के सदस्य रहे है ।

गोयनकाजी सचमुच शान्त है, पर ऐमे ही जैसे ससार का सबसे बडा महासागर प्रशान्त महासागर । पता नही, उसके गर्भ के भीतर कितनी विविधता है और कितने अद्‌भुत रत्न वहा बिखरे पडे हैं । यह तो वही जान सकता है, जिसकी दृष्टि ऊपर के तल को भेद कर भीतर झाक सकती है ।

: २१ :

करुणेशजी

अचानक अखबार पढते-पढते पाया कि हिन्दी के अनन्य सेवक, दिल्ली प्रदेश हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीपुत्तूलाल वर्मा 'करुणेश' का इटावा मे ४ अगस्त की रात को साढे ९ बजे हृदय की गति रुक जाने के कारण अकस्मात देहावसान हो गया ।

सवाददाता ने आगे इतना और लिखा है—"वह दिल्ली छोडकर इस समय इटावा मे ही अपना अवकाश-प्राप्त जीवन व्यतीत कर रहे थे ।"

उनकी मृत्यु ४ अगस्त को हुई और यह समाचार ९ अगस्त के पत्र मे छपा है । हतप्रभ रह गया । हृदय वेदना से आलोडित हो आया । क्षण-भर मे हिन्दी के इस मूक और कर्मठ सेवक के जीवन के अनेकानेक पृष्ठ नेत्रो के सामने खुलते चले गए । ठिगना कद, कोट-पतलून धारण किए, अटपटी वेशभूषा, हाथ मे रजिस्टरो से भरा थैला लिये, तीव्र गति से बोलते हुए और उससे भी अधिक तीव्र गति से चलते हुए एक ऐसे व्यक्ति की भोली-भाली मूर्ति साकार हो उठी, जिसके जीवन का मूलमन्त्र था—काम, केवल काम । किसी आध्यात्मिक नेता ने कहा है—"प्रार्थना के समय हमे सदा कार्यरत रहना चाहिए, क्योकि कार्य ही प्रभु की सबसे बडी प्रार्थना है ।" 'करुणेशजी' इस मन्त्र के मूर्त्तरूप थे ।

उनके एक अनन्य साथी ने एक बार कहा था, "पुत्तूलाल वर्मा दीमक के समान है। जिस वस्तु पर भी दीमक की कृपा हो जाती है, उसका नामशेष हो जाता है। पुत्तूलाल वर्मा के सामने कैसी भी समस्या, कैसा भी भयकर कार्य आ जाय, वह उसको नामशेष करके ही छोडते थे।" आधुनिक कवि और साहित्यिक इस उपमा पर नाक-भौं सिकोड सकते है परन्तु इसके पीछे जो अर्थ है, पुत्तूलाल वर्मा सचमुच उसको जीते थे। वह उस युग के व्यक्ति थे, जिसमे हिन्दी का नाम लेना सचमुच एक गुनाह था। लेकिन वह थे कि नाम लेकर ही सन्तोष नही कर लेते थे, बल्कि नाम की पताका लेकर गली-गली, मोहल्ले-मोहल्ले, घर-घर, प्रत्येक व्यक्ति के पास अलख जगाते फिरते थे। वह उस महान परम्परा की अन्तिम कडी थे, जिसमे भूदेव मुखर्जी और अयोध्याप्रसाद खत्री जैसे व्यक्तियो का नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास मे सर्वोपरि है। मैंने देखा है कि वह कवि-सम्मेलनो के पीछे पागल थे। उस समय दिल्ली मे मच पर यदि १० कवि होते थे तो श्रोताओ की सख्या ५-६ से आगे नही बढती थी, लेकिन 'करुणेशजी' थे कि गर्व से भरे उसकी सफलता पर फूले नही समाते थे। कहते थे, 'बीज डाल रहा हू बीज, देख लेना एक दिन हजारो व्यक्ति इन कवि-सम्मेलनो मे आयगे।"

और सचमुच अपनी ही भविष्य वाणी को उन्होने फूलते-फलते देखा। १९४५ की वसन्त ऋतु मे जब 'ब्रज साहित्य मण्डल' का वार्षिक अधिवेशन दिल्ली मे हुआ तो वह उसके प्रधान मन्त्री थे। रात्रि के समय दोनो दिन विशाल कवि-सम्मेलन हुए। दिल्ली के इतिहास मे पहली बार न केवल हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध कवियो ने उसमे भाग लिया, बल्कि प्रत्येक दिन वहा पाच हजार से भी अधिक श्रोताओ की उपस्थिति रही। महाकवि निराला ने दूसरे दिन कवि-सम्मेलन का सचालन किया था। आजके अनेक प्रसिद्ध नवयुवक कवि शायद पहलीबार उस कवि-सम्मेलन मे आये थे। उस कवि-सम्मेलन की सफलता इतिहास बन गई है। लेकिन पुत्तूलाल वर्मा 'करुणेश' थे कि चुपचाप सबसे पीछे रह कर काम मे लगे हुए थे। रात-दिन लगकर उन्होने विशाल पण्डाल तैयार करवाया। मैं देखता था, न केवल वह काम मे लगे हुए है, बल्कि उनकी पत्नी और उनकी एकमात्र पुत्री भी

उनके साथ उपस्थित हैं। न भूख की चिन्ता, न आराम का प्रश्न। पण्डाल तुरन्त बनना चाहिए, रात को भी काम करना होगा, और उन सबके लिए भोजन की व्यवस्था करेंगी उनकी पत्नी। अधिवेशन के लिए धन की आवश्यकता है। सम्मेलन के दूसरे सचालक दिल्ली के लिए नये हैं, तो कोई चिन्ता नही। करुणेशजी अपना थैला लिये आगे-आगे हैं और हम उनके पीछे और पैसा खिचा चला आ रहा है। भोजन की व्यवस्था कहा होगी ? कोई चिन्ता नही। करुणेशजी ने सब प्रबन्ध कर दिया है। अच्छा, कवियो को पारिश्रमिक भी तो देना है। पुत्तूलाल वर्मा है कि रात के बारह बजे कवियो के पास जा-जाकर, उन्हे जगा-जगा कर हाथ जोडकर प्रार्थना कर रहे हैं, "ये सुदामा के तन्दुल स्वीकार कीजिए। आपको हमने बडा कष्ट दिया, आपके कारण ही सम्मेलन इतना सफल हुआ।"

इन प्रवृत्तियो की कोई सीमा नही थी। वह एक थे, लेकिन उनकी दृष्टि अनेक ओर थी। पण्डाल का द्वार सुन्दर बनना चाहिए, सबके नामकरण भी हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यिको के नाम पर होने चाहिए। 'करुणेशजी' को ध्यान आता है कि अपनी ही दिल्ली मे जैनेन्द्र भी तो हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं। एक द्वार उनके नाम पर भी होना चाहिए। बस तुरन्त एक द्वार पर अकित हो गया 'जैनेन्द्र-द्वार'। सहसा नेता श्रेणी के एक अधिकारी की दृष्टि उस पर गई और आवेश मे आकर उन्होने कहा, "यह क्या मूर्खता की आपने करुणेशजी ! इसे उतार दो। जैनेन्द्र क्या इतने बडे है ?"

द्वार का नाम बदल दिया गया। लेकिन मै आज भी देख सकता हू कि करुणेशजी की भोली-भाली आखें सजल हो आई है और वह दर्द-भरे स्वर मे कह रहे हैं—कितनी ईर्ष्या है इन लोगो मे। क्या तुम नही मानते कि जैनेन्द्र बहुत बडे लेखक है। उनके नाम पर द्वार बनना ही चाहिए। लेकिन मे क्या करू ?

मैं दिल्ली के लिए बिल्कुल नया था। नेतृत्व करने की शक्ति आज तक भी नही बटोर पाया हू। इसलिए दीर्घ नि श्वास खीच कर रह गया और 'करुणेशजी' अपना थैला उठाये तीव्र गति से उस विशाल मण्डप

मे इधर-से-उधर दौडने लगे । लेकिन उस अधिवेशन और उस सस्था के इतिहास मे उनके नाम की चर्चा कही भी नही आती । उसका यश जिन्होने अपने सिर पर ओढा है, वह भी शायद उनका नाम भूल गए है । भूलने मे ही कल्याण है । करुणेशजी इसी एक सम्मेलन के प्रधानमन्त्री नही रहे । अनेक सम्मेलन उनके मजबूत कन्धो का सहारा पा जी गए है । अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दिल्ली अधिवेशन की स्वागत-कारिणी समिति के भी वह प्रधानमन्त्री थे । उन दिनो के सघर्ष की कहानी उनके मुख से सुनने मे ही मजा आता था । भोलेपन के साथ सहज भाव से वह सरलप्राण व्यक्ति, जब उसमे हुए सघर्षो की चर्चा करने लगता था तो बहुत-से लोग हँसने लगते थे । लेकिन उन्ही सघर्षों के फलस्वरूप दिल्ली मे हिन्दी जीवित रह सकी, इसका अहसास शायद किसी को न तब होता था, न आज होता है, लेकिन क्या 'करुणेशजी' ने इसकी ओर कभी ध्यान दिया ? नही दिया । देते तो वह कभी कुछ कर ही नही पाते । वह इतने सरलप्राण थे कि व्यग्य-विद्रूप को कभी बुरे अर्थो मे लेते ही नही थे । हा, उनको एक बात का दु ख अवश्य होता था कि वह कवि है, लेकिन कोई भी उनको साहित्यिक मानने को तैयार नही । एक दिन उन्होने बडे सरल भाव से मुझ से कहा था, "विष्णुजी, क्या कवि को साहित्यिक नही माना जाता ?"

उनकी सरलता कभी-कभी हृदय मे करुणा की हिलोर उठा देती थी । लेकिन उनकी सहज कर्मठता, हिन्दी के प्रति उनकी अनन्य भक्ति और उनका सुदृढ विश्वास उन्हे बहुत ऊचा उठा देता था । वह उद्यान लगाने का काम करते थे । न जाने कितने राजे-महाराजाओ, नवाबो-जागीरदारो जमीदारो और अफसरो के विशाल भवनो के लिए पुष्प-उद्यानो की योजनाए उन्होने बनाईं और कार्यान्वित की थी । पुष्पो की चर्चा करने पर वह जिस तीव्र अनुभूति के साथ एक-एक पुष्प का वर्णन करते थे, सुननेवाला रोमाचित हो आता था । उनका सौन्दर्य प्रेम, उनकी सुरुचि अद्भुत थी । इसीलिए वह जिस काम को भी हाथ मे लेते थे, उसमे सुरुचि और व्यवस्था का पूर्ण समावेश होता था । वह ऊपर से जितने अटपटे दिखाई देते थे, अन्दर से उतने ही प्रेमल, सरल और सच्चे थे ।

करते देखा, पैसा इकट्ठा करते देखा, पंडाल बनवाते देखा, कविता-पाठ करते देखा, हिन्दी का प्रचार करते देखा, आन्दोलन चलाते देखा, अनेक रूपो मे देखा, लेकिन उन सब रूपो मे उनका एक ही रूप मुखर रहता था और वह था 'सेवक' का रूप। वह सेवक जो सबके चरण धोकर गौरवान्वित होता है। युधिष्ठिर के यज्ञ मे कृष्ण ने यही काम स्वीकार किया था।

हिन्दी का अनन्य सेवक, मूक साधक, कर्मठ और कुशल प्रचारक अपने भौतिक रूप मे अब दिखाई नही देगा। लेकिन जो व्यक्ति एक बार भी उनके सम्पर्क मे आया वह उनके प्रेम से छलछलाते हृदय को, स्नेह से आप्लावित उनके भोले नयनो को, कभी नही भूल सकेगा। जब मैंने भतीजी के विवाह का निमन्त्रण पत्र भेजा तो उत्तर मे गद्‌गद् होकर उन्होने लिखा, "मुझे इस बात की बहुत खुशी है। बहुत खुशी है कि तुम मुझे भूले नही हो। इस समय तो मैं केवल आशीर्वाद ही दे सकता हू। लेकिन फिर किसी दिन आऊगा और सबसे मिलूगा।"

पर वह आ नही सके। आया उनकी मृत्यु का समाचार। लेकिन सोचता हू कि वह क्या भूलने योग्य थे! आज के मानदण्ड के अनुसार वह न ऊचे कवि थे, न ऊचे साहित्यिक, लेकिन वह ऊचे मनुष्य अवश्य थे। वह मनुष्य, जो केवल मिशनरी होते है, जो केवल काम करना जानते है। भला उन्हे कोई भूल सकता है! नही, कभी नही भूल सकता।

उस अविस्मरणीय मूक साधक को शत-शत प्रणाम!

: २२ :

सबके दद्दा

उस दिन चिरगाव से भाई चारुशीला शरण गुप्त ने लिखा था—"प्रथम पूज्य भैया के बिना और अब पूज्य दद्दा के बिना जीवन मे वह उल्लास कहा रह गया है? इन दोनो अग्रजो का पचास वर्षों से ऊपर का निरन्तर का सग-साथ अब स्वप्न की-सी बात रह गई है। रिक्तता-

ही-रिक्तता अब जीवन में समा गई है। हरीच्छा।"

रिक्तता पीड़ा पैदा करती है। लेकिन इसीलिए प्रिय पात्र को पहचानने का अवसर देती है। आकाश मे कई तेजपुज नक्षत्र प्रतिभासित होते रहते हैं। लेकिन जिस क्षण कोई एक अस्त हो जाता है, तभी हमको उसके होने का पता लगता है। यह रिक्तता हमारे लिए इस बात की अनुभूति है कि दद्दा क्या थे।

सम्भवत, सन् २०-२१ की बात होगी। आयु थी आठ-नौ वर्ष की। गाव की पाठशाला की तीसरी कक्षा मे 'हिन्दी प्रवेशिका' पढता था। उसमे तत्कालीन सभी प्रसिद्ध लेखको और कवियो की रचनाए थी। लेकिन मैथिलीशरणजी की दो कविताओ—'अहा, ग्राम्य जीवन भी क्या है' और 'किसान'—ने हम देहाती बालको का मन सहज ही मोह लिया था। तब यह कल्पना भी नही कर सका था कि एक दिन इन कविताओ के लेखक से अपरिमित स्नेह पा सकूगा।

समय बीतता गया और दूरी बढती गई। 'भारत भारती' और 'साकेत' के कवि के यश की गूज ही मुझ तक पहुचती थी। 'जयद्रथ वध' की सुभद्रा तथा 'यशोधरा' के कारण आन्तरिक परिचय सघन हो रहा था। तभी सहसा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के काशी अधिवेशन के अवसर पर उनको साक्षात देखा। वह दूसरे दिन आये थे। सहसा "आ गए", "आ गए" की ध्वनि उठी और उत्सुकता से हम सभी एक ओर लपक चले। मैंने कोशिश की, पर पहचान न पाया कि वह आनेवाला कौन है। यशपाल भाई ने कहा, "मैथिलिशरणजी भी आ गए।"

उचककर देखा, "कौन से हैं गुप्तजी। यह मारवाडियो जैसी लाल पगड़ीवाले, अगरखा धोती पहने, गले में दुपट्टा डाले और हाथ मे छड़ी लिये। यह तो निरे मारवाडी लालाजी लगते हैं। यह यशोधरा और साकेत के कवि नही हो सकते। कि सहसा यशपालजी बोले, "देखते हो, दाढी-मूछ साफ है।

"तो ?"

"अरे यह दाढी-मूछ रखते थे, अब साफ करा दी है।"

तब जिसे देखो, वही दाढी-मूछ की चर्चा करता था। मानो यह

कोई बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना हो । प्रथम [illegible] के कवि से बहुत दूर रहे । लेकिन जैसे ही प्रथम [illegible] दूर हुआ तो मेरी शकाए जैसे घुलने लगी । पाया कि यह व्यक्ति रूप-रग और पोशाक मे इतना भारतीय है कि यही 'भारत भारती', 'साकेत,' और 'यशोधरा' लिख सकता है । इसके नेत्रो मे, मस्तिष्क की रेखाओ के बीच और चेहरे की गठन पर साधना की ज्योति अकित है । विश्वास हो गया कि बचपन मे किसान पर जो कविता पढी थी, उसके प्रणेता यही है ।

वह प्रथम मिलन प्रणाम तक ही सीमित रहा । दूर से देखकर ही तृप्ति पा सका । पास देखने का अवसर मिला जनवरी १६४१ मे । लेखक के नाते थोडी बहुत स्वीकृति पा चुका था । उसी अधिकार से साहित्यिक तीर्थ-यात्री के रूप मे घूमता-घामता एक दिन चिरगाव भी जा पहुचा । रात के दो बजे स्टेशन पर उतरा था । सूर्योदय तक वही रुका रहा । फिर सकुचाता, सिमटता उनके घर की ओर चल पडा । मन मे सकोच था, लेकिन जाना तो था ही । इसलिए ग्रामीण राजपथ से होकर उनके विशाल भवन के द्वार पर पहुच गया । कही भी तो कोई रोकटोक नही । सब ओर मुक्त स्वागत । द्वार पार करके बडे से चौक मे जाकर पाया कि दाहिनी ओर एक चबूतरे पर आग सेंकते देहाती जैसे कुछ लोग बैठे है । तबतक दिल्ली मे श्री सियारामशरण गुप्त से परिचय हो चुका था । उन्ही का नाम लेकर पूछा । तुरन्त उनकी पुकार हुई और मुझे बैठने के लिए कहा गया । स्नेहसिक्त वह वाणी जो भारतीय गावो की विशेषता है, आज भी कानो मे गूजती है । उस मण्डली मे मैंने दद्दा को तुरन्त पहचान लिया, यद्यपि तब न बनारसवाली वेषभूषा थी और न वह वातावरण । घुटनो तक की धोती, ऊपर रूई की एक मिरजई, लेकिन नेत्रो का तेज उनके घर मे भी उनको छिपा न सका ।

सियारामशरणजी आये और उसके बाद आतिथ्य, आत्मीयता, का जो क्रम चला उसने मुझे आतक की सीमा तक विभोर कर दिया । मैथिलीशरणजी की शिशु सुलभ चपलता, स्नेहिल आत्मीयता और वैष्णव जनोचित विनम्रता को देखकर ऐसा लगा, जैसे मानवता वहा सचमुच ही साकार हो उठी है । साहित्यिको के बारे मे शायद धारणा है कि वे कही

न कही असाधारण होते है। परन्तु प्रथम दृष्टि मे दद्दा के पास कही भी असाधारणता नही दिखाई देती थी। लेकिन एक स्नेही परिजन की आकुलता के साथ-साथ कुशल व्यापारी की बौद्धिक सजगता और सरल विनम्रता के साथ-साथ घर के बडे के गौरव की रक्षा, क्या यही अपने-आप मे असाधारणता नही है ? वह परम धार्मिक थे परन्तु वह धार्मिकता उनके चारो ओर दायरे और रेखाए खीचने में कभी समर्थ नही हो सकी। वह इतने निश्छल थे कि मुक्त कण्ठ से हँसते उन्हे देर नही लगती थी। उनकी दृष्टि मे अपरिचय से अभय था। उनकी हँसी मे आत्मीयता का आलोक था। कुछ ऐसा सन्तुलन था उनके जीवन मे कि वह सहज ही किसी चरम सीमा पर नही पहुचते थे। ऊष्णता और शीतलता दोनो ही उनके जीवन मे इस प्रकार ओतप्रोत थी जैसे विद्युत मे धनात्मक और ऋणात्मक तार। यह आस्थाजनक सयम न तो उनके विषाद मे ज्वार आने देता था, न हर्ष मे। सियारामशरण की मृत्यु के वाद देखा तो देखता रह गया। विषाद की छाया तक उनके व्यवहार मे नही थी। शोक को जैसे उन्होने अपने अन्तर मे नीलकण्ठ के समान सहेज कर रख लिया था। उर्दू के एक प्रसिद्ध लेखक सम्वेदना प्रकट करने आये तो उन्होने नपे-तुले दो-चार शब्दो मे जवाव देकर उस वात को वही समाप्त कर दिया। मानो कहा हो, "पचास वर्ष के उस साथी के विछोह की वेदना को तुम्हे कैसे समझा पाऊगा, उसे मूक ही रहने दो।" उनका पारिवारिक जीवन ऐसे न जाने कितने अवसादो-विषादो का समूह था। उसीने तो उनकी दृष्टि को निश्छल हँसी की दीप्ति दी थी। यह साधना से अर्जित सयम ही क्या असाधारणता नही है ! क्या तिलक कण्ठीधारी रामभक्त राष्ट्रकवि का अस्तित्व ही अपने आप मे एक असाधारणता नही है ?

इन्ही असाधारण गुप्तजी को मैंने अपने कमरे मे लिखते देखा, ताश खेलते देखा। गप्पे मारते देखा, चाय पीते-पिलाते देखा और वही सोते देखा। गाव की पाठशाला-सा वह कमरा, जिसकी छत टेढी-मेढी वल्लियो पर खपरैल से छायी थी, बाहर तुलसी चौरा और फूल गाछ थे। वर्षो वाद रूस जाकर ताल्स्ताय और गोर्की के भवनो को भी देखा। उनमे

वही अन्तर था जो रूस और भारत मे हो सकता है । भारत जो तपोवनो का भारत है । न जाने किस दिन उनका यह कमरा तीर्थ बनेगा । उनकी एक-एक वस्तु को, विशेषकर उन स्लेटो को जिन पर अनेक काव्यो ने जन्म लिया, दर्शक अपूर्व श्रद्धा से देखेगे । स्लेटो का प्रयोग क्या उनके अचेतन की उस स्थिति को प्रकट नही करता था, जो उनके असमय मे स्कूल छोडने के कारण पैदा हो गई थी ? यू यह शुभ ही था । स्कूल से मुक्ति न मिलती तो शायद हिन्दी को वैष्णव विनम्रता-वाला राष्ट्रकवि न मिलता ।

बहुत वर्षों बाद एक दिन फिर सपरिवार उसी तीर्थ मे जा निकला । सौभाग्य से दोनो कवि-बन्धु वहा उपस्थित थे । यद्यपि दोनो बडे भाई स्वर्गवासी हो चुके थे, फिर भी जो शेष परिजन थे, वे सभी तुरन्त वहा इकट्ठे होगए लेकिन लग रहा था जैसे कही कुछ खोया हुआ है । आतिथ्य, आत्मीयता सभी कुछ था पर वह सघन ऊष्मा, जो पहली बार वहा देखी थी, वह जैसे तिरोहित हो चुकी थी । हा, तिरोहित नही हुई थी राष्ट्रकवि की स्नेहपगी विनम्रता । उनके चेहरे पर का तेज और भी गौरवमण्डित हो चुका था । जितना गौरव बढता था, आत्मीयता उतनी ही सघन होती थी ।

जो अभाव मैंने अभी अनुभव किया था वह शायद इसी कारण था कि उनका वह बडा परिवार अब खण्डो मे विभाजित हो चुका था । यह सहज स्वाभाविक था । लेकिन जो साकेत के रचयिता है, उनके आगन मे सीमाए बने यह कुछ मेरे पुरातन पथी मन ने स्वीकार नही किया ।

मैंने उनकी विनम्रता की चर्चा की है । आज के युग मे इसी विनम्रता के कारण उनके आलोचक कुछ कम नही है । उनका मान-सम्मान भी नई पीढी के मन मे उतना नही था । बहुत पहले श्री अरविन्द ने इस पीढ़ी के लिए लिखा था, कि वह अपनी पुरानी पीढी के प्रति हिटलर से भी अधिक निर्दय होगी । राष्ट्रकवि के प्रति यह निर्दयता काफी मुखर रही है । लेकिन स्वय वह उससे रचमात्र भी प्रभावित नही हुए । अपने को सदा पीछे आनेवालो का जय-जयकार ही मानते रहे । यही नही, सात्विक गर्व से भर कर उन्होने यह भी कहा, "मैं अतीत ही नही,

भविष्यत् भी हू आज तुम्हारा ।"

याद आता है एक बार मैंने उनसे कहा था, "लोग आपकी भाषा की बडी आलोचना करते हैं । उसमे बडा अटपटापन रहता है ।"

वह किसी पुस्तक के पन्ने पलट रहे थे । पास ही श्री सियारामशरण गुप्त तथा डा० मोतीचन्द्र बैठे थे । उन्होने सहज भाव से सियारामशरणजी की ओर देखकर कहा "हा, यह बात तो हमे भी लगी है । इधर हम भाषा पर अधिक ध्यान नही देते ।"

देखता रह गया । कोई कटुता नही, कोई गर्व-जन्य उपेक्षा नही । जिस सहज भाव से उन्होने उत्तर दिया, वह उन्ही के अनुरूप था । जो स्वय सहज हो रहता है वही तो सब-कुछ को सहज भाव से ग्रहण करता है । गुप्तजी की यह सहजता ही उनके बडप्पन की सीमा थी ।

उनकी व्यापार बुद्धि भी बडी तीक्ष्ण थी । इसलिए उनके आलोचक कहते थे कि उनकी विनम्रता एक व्यापारी की विनम्रता है । मैं व्यापारी नही हू, इसकी कसौटी नही बन सकता । लेकिन व्यवहार में सजग होना न असभ्यता है, न अशिष्टता । असभ्यता और अशिष्टता है, तो दम्भ मे है । और वह दम्भ राष्ट्रकवि से दूर ही दूर था । उनकी विनम्रता मे शिशु का भोलापन, नारी का स्नेह और भक्त की तरलता इस सीमा तक थी कि वह घिघियाते-से जान पडते थे । लेकिन वह मात्र छल था । वह अत्यन्त स्वाभिमानी थे । दूसरे को प्रतिष्ठा देते थे और देने के लिए झुक जाते थे । लेकिन सामनेवाले के अभिमान के सामने नही झुकते थे। मैंने उनके रौद्र को देखा है, मान को भी देखा है । एकबार आकाशवाणी के अधिकारियो के किसी व्यवहार से उन्होने अपने को अपमानित अनुभव किया । तब बार-बार प्रार्थना करने पर भी वह वहा नही गये । अन्तत जब गये भी तो उनके मुख की रेखाओ मे अन्तर का ज्वालामुखी जैसे भभक-भभक उठता था । परन्तु उनका यह अभिमान अपने व्यक्ति के लिए नही था, बल्कि उसके लिए था, जिसके वह प्रतिनिधि थे ।

इसी प्रकार जहा उन्हे चुनौती मिलती थी, वहा वह उतने ही ऊपर उठ जाते थे । याद आता है कि एक सभा मे उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि के साथ उनका भी सम्मान हुआ था । उपस्थित व्यक्तियो मे उर्दूदा

अधिक थे । उन कवि की कविताओ ने वह समा बाधा कि श्रोता फडक-फडक उठे । मेरे पास हिन्दी के एक लेखक बैठे थे । बोले, "गुप्तजी इनका क्या मुकाबला करेंगे ? कहा यौवन का उद्दाम तेज, कहा ढलते सूर्य की पस्ती ।"

लेकिन जब ढलते सूर्य ने बोलना शुरू किया तो लगा जैसे वह पश्चिम से पूर्व की ओर मुड गया है । देर तक वह सभा-स्थल 'वाह-वाह' और 'क्या कहने' की ध्वनि से गुजायमान होता रहा ।

निर्वेद मे रौद्र रस देखने के और भी अवसर मुझे मिले है । एक बार उनके दिल्ली स्थित निवास-स्थान पर मेरे एक मित्र ने उनके एक प्रिय बन्धु की किसी प्रसग मे आलोचना की । कई क्षण तो वह सुनते रहे, लेकिन जब वह मित्र कुछ उत्तेजित हो उठे तो गुप्तजी के मुख पर जो स्नेहिल विनम्रता थी वह सहसा तिरोहित हो गई और काठिन्य उभर आया । बोले, "तुम अविश्वास क्यो करते हो ? जो वह कहते हैं उसे सहज भाव से मान क्यो नही लेते ? उन्होने जान-बूझकर उपेक्षा की है, इसका जबतक तुम्हारे पास प्रमाण नहीं है, तबतक तुम्हे यह स्वीकार कर ही लेना चाहिए । नही करते तो गलती पर हो ।"

शब्द कुछ और हो सकते है, भाव यही था । और उस भाव मे उग्रता थी । था यह सहज विश्वास कि उनके बन्धु गलती नही कर सकते । उनकी उस मूर्ति को देखता रह गया । सन्तोष भी हुआ कि उनकी विनम्रता सौजन्य की एक सीमा है, आत्मगौरव को नकारनेवाली नही । नेहरूजी के सामने उनकी इस विनय की पराकाष्ठा को मैंने इसी रूप मे लिया है । प्रियजनो को लिखे पत्रो मे भी वही वैष्णव विनम्रता मुखर है

"प्रियवर,

पत्र मिला । हा, गत मास काशी से लौटते वक्त मैं गडबडा गया था, परन्तु बच गया हू । अभी ससार का लेखा-जोखा पूरा नही हुआ है । आपकी कृपापूर्ण शुभकामनाओ के लिए हृदय से आभारी हू । १०-१२ अगस्त तक दिल्ली पहुचना चाहता हू । तब आपको वहा आने का कष्ट और करना होगा ।"

वह राज्यसभा मे आये। किसी दल में नही थे, परन्तु स्वेच्छा से काग्रेस दल का साथ देते थे। उसकी गतिविधि मे रस लेते थे, इतना कि सदस्य इन्हे काग्रेस दल का गैर-सरकारी व्हिप मानने लगे थे, परन्तु फिर भी उचित आलोचना करने से वह चूकते नही थे। बजट पर उनके पद्यमय भाषण इसका प्रमाण है। स्पष्टवादी तो इतने थे कि १९४१ मे जब कलेक्टर ने उन्हे अग्रज सहित बन्दीगृह का अतिथि बनाया, तब उसके कुछ पूछने पर उन्होंने कहा था, "आपका दिमाग खराब हो गया है। आपसे क्या बातें करे।"

एक और घटना की याद आती है। किसी सभा मे अचानक उग्रजी से भेंट हो गई। लपककर उनसे मिले। कुशल समाचार पूछा और बोले, "कभी गरीबखाने पर जूठन गिराने के लिए आइये न !" फिर चलते-चलते कहा, "महाराजजी, आपने अपनी प्रतिभा का बडा दुरुपयोग किया है।"

उग्रजी देखते ही रह गए। यद्यपि इस स्पष्टता के पीछे, स्नेह ही था, फिर भी इसके दश मे कचोट तो थी ही। लेकिन इतना होने पर भी मैंने सदा अनुभव किया कि वह मिलते समय एक क्षण के लिए भी अपने को हावी नही होने देते थे। मिलनेवाले को ही महत्व देने का पूरा प्रयत्न करते। प्रेम का आग्रह और अनुरोध उनके जीवन का अग बन गया था। पहली बार जब उनसे मिला तब मै हिसार के सरकारी पशु-पालन फार्म पर काम करता था। उन दिनो एक विशेष प्रकार की मिट्टी से बननेवाले मकानो का प्रयोग चल रहा था। उन्होंने मुझसे उसके बारे मे बहुत-कुछ पूछा और साहित्य भेजने के लिए भी कहा। इसी तरह पिछले कई वर्षों से जब मैं शरतचन्द्र की जीवनी के सम्बन्ध मे काम कर रहा था तो मिलते ही उन का पहला प्रश्न होता था, "महाराजजी, अब कब आ रही है वह जीविनी। आपने विष्णुजी, अद्भुत काम किया है। बगाली भी क्या याद करेंगे।"

गुप्तजी जहा मजलिस मे बैठकर मुखर रहते थे, वहा सभा चतुर होकर भी वह उनसे उतने ही भयभीत रहते थे। स्वभाव से वह सकोची और प्रवास भीरु थे। दिल्ली मे उन्होने सभाओ से बचने की पूरी

कोशिश की । तत्कालीन साहित्यिक सस्था 'शनिवार समाज' की ओर से प्रथम ससद के साहित्यिक सदस्यो का सार्वजनिक स्वागत किया गया था । उसमे भी शामिल होने से उन्होने इन्कार कर दिया था । बहुत आग्रह पर ही आने को राजी हुए थे । बोले, "अरे हम तो कही नही जाते ।"

मैंने उत्तर दिया, "दद्दा यह सब हिन्दी के लिए किया है । आप न आये तो ।"

उन्होने तुरन्त कहा, "मैं आऊगा ।"

और आये ही नही, कविता-पाठ भी किया । इतने उत्साह और उल्लास से किया कि उस गर्मी मे परेशान जनता खिल-खिल उठी । बाद मे अनेक सस्थाओ ने उनको अपने यहा बुलाना चाहा । कुछ व्यक्ति मुझे भी सिफारिश के लिए लेगए । वह उसी अहिंसक विनम्रता से बोले, "आप हमारे स्वभाव को जानते ही हैं । पर आप कहेगे तो चले जायगे ।"

मैंने कहा, "न दद्दा, हम आग्रह नही करते ।"

इस बात से वह बहुत प्रसन्न हुए । उनकी इस सभा-भीरुता के लिए उनको दोष नही दिया जा सकता । ऐसे-ऐसे नवोदित साहित्यकार उनके पास आते थे जो उन्हे अपनी पूरी पुस्तक सुनाने के लिए अपनी सेवाए अर्पित करने मे सकोच नही करते थे । लेकिन यू मित्रो और प्रियजनो से मिलने मे उन्हे आनन्द ही आता था । उनकी व्यस्तता को देखकर मैं उनके पास जाने मे झिझकता था । लेकिन उनका प्रेम भरा आग्रह बराबर बना रहता था । एक बार जाने पर कहते थे, "आपको फिर भी आना होगा ।"

नही जानता कि यह उनकी मुझ पर विशेष कृपा थी या अपने स्नेहिल स्वभाव के कारण ही ऐसा कहते थे । बारह वर्ष दिल्ली मे रहकर जब वह फिर चिरगाव लौटे तो उनका यह आग्रह और भी अधिक हो उठा । उन्होने बार-बार कहा, "मैं तो यही आशा रखता हू कि कभी आप यहा दर्शन देंगे ।"

"आकाक्षा यह है कि आप दो-चार दिन यहा आकर मेरे साथ रहे ।

देखू, यह कब पूरी होती है।"

"आपकी अस्वस्थता से चिन्ता हुई। जलवायु परिवर्तन के लिए क्यो नही आप यहा आ जाय ? आपका भार (स्ट्रेन) भी कुछ-न-कुछ कम हो जायगा। वहा तो मिलनेवालो की भी भीड रहती है। यहा मैं भरसक भीड-भाड से आपको बचाऊगा। मेरी इच्छा है, आप आयें। ऋतु भी अनुकूल है।"

लेकिन मैं यह सौभाग्य पाने से वचित ही रह गया। और वह आग्रह करते-करते चले गए। अतिम वार जब वह दिल्ली आये तो अस्वस्थता के कारण मैं फोन पर ही वात कर सका। उनका अन्तिम वाक्य यही था, "वस भैया, अब तो पैर जवाव दे रहे है। चलने की वारी है।"

सचमुच ही कुछ दिन वाद वह चले गए। एक और विशेषता उनमे मैंने अनुभव की थी। वह केवल यही नही चाहते थे कि लोग उनसे मिलें वल्कि उनका आग्रह रहता था कि आसपास जो साहित्यिक हैं उनसे भी मिला जाय। जव वह नॉर्थ एवेन्यू में रहते थे तो बरावर यही कहते थे, "यहा आये हो तो बनारसीदासजी से भी मिलकर जाना।"

उनकी यह सजगता केवल व्यावहारिक ही नही थी। इसके पीछे एक सस्कृति थी। प्राचीन सस्कारो से उपजी सस्कृति, जिसमे चचलता नही थी, जडता भी नही थी। वह इतनी उदार थी कि उनकी वर्ण-व्यवस्था मे मुन्शी अजमेरीजी जैसे मुसलमान सहज ही समा सकते थे। इसी सस्कृति ने उन्हे विनम्रता दी थी। और दम्भी तथा दुराग्रही होने से बचाया था।

उनकी प्रथम कविता १९०५ मे प्रकाशित हुई थी। उसके बाद लगभग ६० वर्ष तक उन्होने हिन्दी साहित्य को सवारा सजोया ही नही, उसका निर्माण भी किया। तुतलाती हुई खडी बोली, जिसको उन्होने स्वर दिया था, उनके जीवन-काल मे ही पूर्ण यौवना हो चुकी थी। भारत-भारती की रचना करके उन्होने राष्ट्र मे जो प्राण फूके, ऐसे उदाहरण इतिहास मे विरल ही मिलते है। राजनीतिज्ञ आते है और चले जाते है। जिनके लिए ऐसा लगता है कि वह अनिवार्य हैं उन्हीको एक दिन हम बिल्कुल भूल जाते है। लेकिन साहित्यकार कालजयी है। वह शरीर नही, स्वय चैतन्य है। मैथिलीशरण उसी चैतन्य का मूर्त्त रूप थे,

जो सदा जडता को चुनौती देता रहता है और मूल्यो को जड नही होने देता। इसीलिए साहित्यकार को सब कालो मे और सब स्थानो पर समान प्रतिष्ठा और मान्यता सुलभ है।

भारत-भारती के कवि ने ही रामकथा को नया रूप देकर 'साकेत' का निर्माण किया। काव्य की उपेक्षिता उर्मिला साकेत मे सजीव हो उठी है। उनकी यशोधरा और कावा कर्बला ने अखण्ड मानवता के पौधे को साहित्य के अमृत से सीचा। विष्णुप्रिया के रूप मे उन्होने एक बार फिर मूक नारी की वेदना को स्वर दिया। उन्होने द्वापर, नहुष और जय-भारत की रचना करके प्राचीन सस्कृति की कथाओ को नये अर्थ दिये। इन अर्थों के सन्दर्भ मे उनका उद्देश्य अन्तत मानव की प्राण-प्रतिष्ठा करना ही था। दिवोदास और पृथ्वीपुत्र उनके चिर विकासशील मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रमाण है। वह मात्र राष्ट्रीय नही थे, भारतीय थे और उनकी भारतीयता मानवता का ही प्रतीक थी।

तभी समर्थ भाव है कि तारता हुआ तरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

वह उन कवियो मे थे जो भक्त भी होते है या कहा जा सकता है कि वह ऐसे भक्त थे, जो कवि भी थे। इसलिए उनमे आत्म-समर्पण भी है और निर्माण का अहम् भी।

वह मात्र साहित्यकार भी नही थे। मशीन से उन्हे उतना ही प्रेम था जितना साहित्य से। मैंने उन्हे मशीन मे डूबे हुए देखा है। यू साहित्य के साधको मे शासक से लेकर मजदूर तक है पर मशीन, व्यापार और साहित्य मे एक समान रस लेनेवाले कम ही हैं। गाव के उनके उस विशाल भवन मे, जहा साहित्य का भण्डार था, वहा इजन भी कम नही थे।

और परम वैष्णव होकर भी शृगार-रस से उन्हे घृणा नही थी। वेलिंगडन हॉस्पिटल मे रोग-शैया पर से मैंने उनके मुख से शृगार के पद सुने हैं। उस समय उनके नेत्रो मे सकोच नही था। था एक ऐसा उद्वेग और उल्लास जो उद्दाम जीवन का ही साक्षी हो सकता है। उनके जीवन की यही विविधता पूर्ण मानव की साक्षी थी। राष्ट्रकवि होने से पहले

वह कवि थे। कवि से भी पहले वह मानव थे। ऐसे स्नेही मानव जो सबके दद्दा बन गए थे।। स्नेह और आत्मीयता, गौरव और गुरुता, एक ऐसा सम्मिश्रण था उनके भीतर कि वह उन्हे सबका बनाता था, सबको समझने की दृष्टि देता था। जो सबको समझता है वही तो बडा है। सब के दद्दा ऐसे ही बडे थे।

: २३ :

विष्णु प्रभाकर : अपनी निगाह में

अब्राहम काउली ने कही लिखा है कि अपने बारे मे स्वय लिखना कठिन भी है और रोचक भी, क्योकि अपनी बुराई और निन्दा करना स्वय को बुरा मालूम होता है और अगर अपनी प्रशसा करे तो पाठको को सुनना अच्छा नही लगता।

वास्तव मे अपनी निगाह से अपने को देखना असम्भव जैसा है। या तो मैं अपनी प्रशसा कर सकता हू या अति उदार होने का नाट्य करते हुए अति निन्दा। दोनो ही दृष्टिकोण गलत है। दूसरो की दृष्टि से अपने को देखू तो भी तटस्थ रहना मुश्किल हो जाता है। व्यक्तिगत अहम् के इस युग मे तटस्थता मात्र एक दम्भ है। 'मै' को अनावश्यक महत्त्व देना उसी दम्भ का एक रूप है। फिर क्यो न आपसे क्षमा माग लू ?

यही निश्चय करके सो जाता हू। लेकिन कुछ ही क्षण बाद पाता हू कि मेरे हाथ मे एक अखबार है और उसके अन्तिम पृष्ठ पर अन्तिम कालम मे एक अन्तिम समाचार छपा है

१९

कल यहा हिन्दी के एक लेखक श्री विष्णु प्रभाकर का देहान्त हो गया। उनकी आयु वर्ष थी। वह बड़े सरल और निरभिमानी थे।

यह समाचार पढकर सचमुच खुशी हुई। उत्सुकता भी जागी।

दूसरे अखवार टटोलने शुरू किये । अधिकाश मे इस तरह की कोई सूचना नही छपी थी । दो मे अन्तिम पृष्ठ पर एक कोने मे दो-दो लाइनें थी, कल यहा हिन्दी के एक लेखक श्री विष्णु प्रभाकर का देहान्त हो गया । तीसरे एक अखबार मे इस सूचना के उपरान्त लेखक के जीवन के सम्बन्ध मे सक्षिप्त विवरण भी छपा था । अन्त मे लिखा था, "वह मौन प्रकृति के परन्तु विरोधाभासो से पूर्ण व्यक्ति थे । मसलन इस यन्त्र-युग मे मेधा को नही, हृदय को सर्वोपरि मानते थे । घूमने के शौकीन थे, पर भीड से घबराते थे । जोर से धक्का मारने के स्थान पर बन्द द्वार पर केवल दस्तक देकर काम करा लेना चाहते थे । राजनीति से दूर थे, परन्तु कलफ लगी गाधी टोपी लगाते थे । अपने इसी स्वभाव के कारण वह जीवन के किसी क्षेत्र मे सफल नही हो सके । कल के अक मे हम उनके एक अन्तरग मित्र का एक लेख उनके सम्बन्ध मे प्रकाशित करेंगे ।"

तभी पाता हू कि उनके कुछ परिचित बन्धु (मित्र उनका कोई नही था) उनके वारे मे चर्चा कर रहे हैं । एक बन्धु ने कहा, "चलो, एक और दम्भी मरा । कम्बखत ने कभी किसी से खुल कर बातें नही की । मुझे विश्वास है कि अपनी पत्नी से भी नही ।"

दूसरा बोला, "सच, क्या उसकी पत्नी थी ?"

और वह हँस पडा । तीसरे ने कुछ गम्भीर होकर कहा, "नही भाई, तुमने गलत समझा । असल मे उसे बातें करनी आती ही नही थी ।"

पहला बोला, "कुछ भी हो, था बेमुरव्वत । हमेशा एक निश्चित दूरी से वातें करता था ।"

चौथे को जैसे वेदना हुई । बोला, "यार, तुम ज्यादती कर रहे हो असल मे वह बहुत सीधा था ।"

यह सुनकर सहसा वे हँस पडे । दूसरे ने कहा, "सीधा यानी बुद्धू ।"

मन कुछ खिन्न हो आया । दृष्टि उस ओर से घुमाई, पर पाया कि उस ओर भी उसी की चर्चा है । एक व्यक्ति ने दर्द-भरे स्वर मे कहा, "लोगो ने उसे गलत समझा । वह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का एक

आत्माभिमानी व्यक्ति था ।"

दूसरा बोला, "सच, बहुत भला था । सदा हर किसी की सहायता करने को आतुर रहता था । अभिमान तो उसे छू भी नही गया था ।"

तीसरे ने कहा, "मैं आप लोगो से सहमत हू । परन्तु मुझे लगता है, कही न कही उसके मस्तिष्क मे विकार अवश्य था । हमेशा पीछे ही हटता था । साथी की हर चाह पर तुरन्त मुहर लगा देता था । हमेशा किसी-न-किसी के पीछे अपने को छिपाये रहता था । विवाद की उग्रता उसे सदा समन्वय के लिए उत्तेजित करती थी । अन्त मे तो नौकरियो की तरह उसने सब सभा-सोसाइटिया भी छोड दी थी । क्या आप नही मानेंगे कि उसका भलापन किसी हीन भाव मे से उद्भूत हुआ था ?"

एक क्षण रुककर चौथे बन्धु बोले, "हो सकता है, फिर भी उसकी पसन्द और नापसन्द न हो, यह बात नही थी । मैंने उसे उग्र तक होते देखा है ।"

तीसरे बन्धु ने फिर कहा, "यही तो, वह विरोधाभासो का केन्द्र था और मनोविज्ञान मे यह विरोधाभास उस दुर्बल व्यक्तित्व के द्योतक है जो "

यहा वातावरण में गम्भीरता आने लगी थी । एक मित्र ने उन पर लेख लिखने की आवश्यकता पर भी जोर दिया, जिसमे उनकी दुर्बलताओ का सम्यक रूप से अध्ययन प्रस्तुत किया जाय ।

लेख की बात होते ही मैंने पाया कि मेरे हाथ मे वह पत्रिका है, जिसमे उनके अन्तरग मित्र का लेख छपने की बात थी । बडी उत्सुकता से मैंने उसके पन्ने पलटे । सचमुच चौथे पृष्ठ पर दिवगत लेखक के चित्र के साथ वह लेख छपा था । पढने लगा :

"हमे बडा दु ख है कि आज हमे अपने प्रिय मित्र के सम्बन्ध मे लिखना पड रहा है । यद्यपि हमारा मित्र ठेठ गाधीवादी भाषा (वैसे वह गाधीवादी नही था) मे मृत्यु को मित्र ही मानता रहा । लेकिन हमारा विचार है कि उसकी आयु अभी ऐसी नही थी कि हम उसकी मृत्यु को मित्रता का काम माने ।

"वह राजधानी की एक गन्दी बस्ती मे रहता था, जहा आसपास

कुम्हार, खिलौने बनानेवाले, शराबी और कभी हत्यारे भी बसते थे। ऊचे वर्ग के लोग उसके घर आते बडे हिचकिचाते थे। उसके शौक भी अजीब थे—घूमना, डाक-टिकट इकट्ठी करना, जमीन के अभाव मे गमलो मे पौधे उगाना। वैसे नये युग के प्रतीक कैक्टस चाहने पर भी उसके गमलो मे नही पनपते थे। कभी लिखना भी शौक था, जो अब पेशा बन गया था।

"यह ठीक है कि नव लेखन के आधुनिक युग मे वह अजनबी-सा लगने लगा था, फिर भी उसके साथ कदम बढाकर चलने मे उसे कभी आपत्ति नही हुई। व्यतीत जीवी वह नही था मानता था, कि युग सदा आगे बढता है। गत्यावरोध अक्सर मस्तिष्क मे ही अधिक होता है। और आज प्रगति की गति बडी तीव्र है। पिछले पचास वर्षों मे जितनी प्रगति हुई है, उतनी सम्भवत आदि सृष्टि से लेकर तबतक नही हुई थी। अणु-युग मे कैसी भी तीव्रगामी शक्ति का पिछड जाना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से उसे यह मानने मे तनिक भी आपत्ति नही थी कि वह पिछड़ता जा रहा है। इसे वह अपनी अक्षमता मानता था, अपराध नही। अक्षमता और अपराध दोनो एक ही वस्तु नही है।

"यही मान्यता उसे सजीव बनाये रही थी। और आधुनिक लेखक भी उसकी उपेक्षा नही कर पाते थे। जो नये थे उन्हे उसका स्नेह ही मिलता था, प्रेरणा भले ही न मिलती हो। वैसे स्नेह अपने-आप मे कम प्रेरणा नही है। यो आज के उन लेखको से उसे बडी चिढ थी, जो सस्ती वाहवाही, सरकारी पुरस्कार और पदवियो के लिए अफसरो और मन्त्रियो की ठकुरसुहाती करते है या पैसे के लिए पूजीपतियो के नौकरो तक को अपनी रचनाए सुनाते नहीं थकते। और उस जैसे लेखको की ओर गरूर से भर कर देखते है। लेखक उन भाग्यशाली व्यक्तियो मे से है, जिसे उस दूरी को जो वह सदा अपने चारो ओर बनाये रखता था, पार करके उसके पास जाने का अवसर मिला था। वस्तुत अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनो मे वह इतना त्रस्त और भीतिग्रस्त रहा कि मनुष्य मे ही नही अपने आपमे भी विश्वास खो बैठा था। जबतक वह अपने पैरो पर खडे होने योग्य हुआ, तबतक अन्तर का उल्लास मर

चुका था और पीछे हटने को ही उसने धर्म मान लिया था। मैंने बहुत अन्तरग स्थिति मे उसके मुह से सुना है, 'मैंने जो चाहा वह कभी नहीं पा सका। सदा विपरीत परिस्थितियो मे पला और वही करना पडा, जिसकी चाह नही थी। इतना साहस भी न पा सका कि विद्रोह कर सकू।'

"वह एक सभ्रान्त परिवार मे जन्मा। शैशव मे प्यार भी खूब पाया। लेकिन होश आने पर उसे जो कुछ याद है, वह यही है कि उसकी मा उसे वेहद प्यार करती थी। पर जैसे कही किसी ने उसके पखो को बाध रखा था। उसके पिता निर्मम रूप से उदासीन थे। एक चचा थे, जिनका प्यार जालिम था। दूसरे थे, जिन्होने प्यार तो खूब किया पर वह सापेक्ष था। इन परिस्थितियो मे उसने सदा यही अनुभव किया जैसे उसके साथ भेदभाव किया जा रहा हो। वह छोटा है, गरीब का वेटा है। तब उसके कोमल मन पर वेदना की एक गहरी लकीर खिचती चली गई। वह लकीर सदा गहरी ही हुई, मिट नही सकी।

"भविष्य निर्माण की आशा मे मा ने उसे अपने से दूर भेज दिया। लेकिन वहा जिन परिस्थितियो मे रहना पडा, वे और भी दम घोटनेवाली थी। केवल मामा का प्यार ही उसका सबल था। और इसीने उसे आवारा होने से रोका। लेकिन कुण्ठाग्रस्त अवश्य बना दिया। उसने चोरिया की, और भी बहुत कुछ किया, जो एक त्रस्त और सहमा हुआ किशोर कर सकता है। वैसे चोरी करने की सीख तो गाव की पाठशाला मे ही मिल चुकी थी। यहा उसे जेठ की तपती दुपहरी मे नगे पैर दौडना पडा। उस गर्मी मे वह कई बार गरम कोट पहन कर स्कूल गया, क्योकि उसके पास साफ और साबुत कमीज नही थी। कडकते शीत मे उसके हाथ-पैरो पर मैल जम-जम कर खून बहने लगता था। और उसे अध्यापको का धिक्कार सहना पडता था। एक-सौ-छ. डिग्री ज्वर मे वह खोडी खाट पर अकेला तडपता रहता था। घर का छोटे-से-छोटा और कडे-से-कडा काम वह करता था और फिर अक्सर उसे वह कुछ खाने को भी विवश होना पडता था, जिसको कोई होशवाला आदमी नही खाना चाहेगा।

"यही कहानी सुनाते-सुनाते एक दिन वह उदासीन हो उठा। दृष्टि मे जैसे वह त्रास साकार हो उठा हो। एकाएक व्यग्र होकर बोला, "नही। जो कुछ मैंने सहा है वह इतना पवित्र है कि जिह्वा पर लाते दुख होता है। जीवन मे कुछ तो ऐसा रहे, जिसे हर किसी के साथ वाटने-भोगने की आवश्यकता न हो। आपके जीवन मे भी ऐसी पवित्र घटनाए रही होगी, जिन्हे किसी भी शर्त पर अपने से जुदा करना सभव नही होगा। कोई ऐसी मधुर स्मृति, कोई ऐसा सुखद क्षण जो 'गिरा अनयन नयन बिनु वाणी' हो उठा हो। उसी तरह त्रास भी होता है वैसा ही पवित्र, वैसा ही शब्दो की सीमा से परे।"

"लेकिन इस पवित्र त्रास से जो हानि-लाभ हुआ, उसे खतियाकर देखता हू तो पाता हू कि मन बुझ गया है, और प्राणो का रस चुक गया है। मैंने उस त्रास से मुक्ति पानी भी चाही लेकिन, जैसे ही उच्च शिक्षा के लिए वहा से चले जाने का अवसर आया, तभी परिवार की स्थिति विगड गई। स्नेहमयी मा, जो अवतक सहारा थी, वह स्वय असहाय हो गई। और मुझे विवश होकर सरकार की अठारह रुपये मासिक की दफ्तरी की नौकरी करनी पडी। उसे न मैंने चाहा था, न मागा था। औपचारिक प्रार्थना पत्र तक नही दिया था। अनचाहा ऐसे ही लम्बी वाहे करके मिलता है। यह वह जमाना था जब गाधीजी के नेतृत्व मे स्वाधीनता सग्राम उग्र होनेवाला था। वडी इच्छा थी कि उसमे भाग लू, लेकिन हुआ यह कि पन्द्रह वर्ष तक सरकारी नौकरी के चक्रव्यूह मे भटकता रहा। यू अग्रेज अफसरो के साथ काम करने के बावजूद खद्दर पहना, राजनीतिक गतिविधियो और स्थानीय कार्यकर्ताओ का सामीप्य पाया। पुलिस की कृपा भी पाई। कृपा शब्द व्यग्यार्थ मे नही वाच्यार्थ मे ही है। ६ जून १९४० की वडी तलाशी से दो दिन पूर्व स्थानीय सी० आई० डी० का सिपाही मुझे सब-कुछ वता गया था। वह सिपाही मुसलमान था, पजाबी मुसलमान। और वही क्यो, जो तीनो धर्मों के इस्पेक्टर तलाशी लेने आये थे और जिन्होने दीवारो तक का प्लास्तर उखाड डाला था, उन्होने भी मेरे खिलाफ रिपोर्ट नही की। बस मित्रता पूर्ण चेतावनी देकर चले गए।

"काश ! वह सदय न होते पर अनचाहा जो होना था । यू पुलिस का क्रूरतम रूप मैंने देखा-भुगता है । उसके इस अमानवीय रूप के कारण ही मैं उसे कभी क्षमा न कर सकूगा । इस कृपा के बावजूद भी नही ।

"इस प्रकार इस अनचाहे वातावरण मे मन पहले ही बुझ गया था। जबतक नौकरी से स्तीफा दू, शरीर भी टूट गया । मेरे स्वास्थ्य के कारण स्कूल के साथी मुझे 'पडितजी' कहकर पुकारते थे कि श्राद्ध का माल खा-खाकर मुटा गया है । वही मैं अब नरवस ब्रेकडाउन का शिकार हो गया । लेकिन मर नही सका, क्योकि आर्यसमाज के कारण मुझे अध्ययन करने और अपने को व्यक्त करने का अवसर मिल गया था । शुरू मे उसकी खण्डनात्मक प्रवृत्ति के कारण उसे विरोधी की धज्जिया उडाते देखकर मुझे अजीब सन्तोष होता था । यद्यपि यह नकारात्मक सन्तोप था । और शीघ्र ही मुझे उससे घृणा भी हो गई । पर कुछ समय के लिए ही सही, उसने मेरे बुझते मन को ऊष्मा दी । शिक्षाकाल मे भी सारी विपरीत परिस्थितियो के बावजूद मैं हिन्दी, सस्कृत, इतिहास, धर्मशिक्षा आदि विषयो मे बहुत होशियार था । इसलिए वाद-विवाद मे सबसे आगे रहता था । अभिनय मे कुशल था । पारितोषक भी पाये और गुरुजनो का स्नेह भी । यही सब बालोचित उल्लास-त्रास की इस पीडा पर मरहम का काम करता था । इसी तरह आर्यसमाज के मच पर मुझे जो सम्मान मिला, उसने मुझे सरकारी नौकरी की पीडा सहने की शक्ति दी । काश ! वह शक्ति न मिली होती ।

"एक और मार्ग मेरे सामने खुला । जिस समय मैं उस वातावरण से मुक्त होने को छटपटा रहा था और अवरोध की ऊची दीवारे मुझे घेरती आ रही थी, तब मेरा किशोर मन पागलो की तरह रोता था । बार-बार पुकार उठता था "इससे तो मरना अच्छा है ।" मैंने एक कापी पर उतनी लाइनें खीच ली थी, जितने दिन के बाद मेरे कालेज चले जाने की सभावना थी । प्रतिदिन मे एक लाइन काट देता था और साथ ही अपने मन की व्यथा को अटपटी भाषा मे लिखता जाता था । लेकिन एक दिन पाया कि जाने की अवधि अब अलघनीय हो गई है ।

उस दिन के बाद वह भावुक अभिव्यक्ति और भी करुण हो उठी। उसी अभिव्यक्ति के बल पर ही मैं लेखक बन गया।

"इस प्रकार मेरे लेखन का मूल अन्तर्व्यथा की अभिव्यक्ति ही है। इसी अभिव्यक्ति के कारण मुझे आर्यसमाज के मच पर आमत्रित किया गया था। इस आमत्रण ने मेरे रहे-सहे पर काट दिए। आर्यसमाज की आचारसहिता ने मेरे विद्रोह को कुचल दिया। घर से भागकर भी मैं लौट आया। मेरी प्रारम्भिक रचनाओ पर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव है।

"फिर आया यौवनकाल, जो पूरे का पूरा सरकारी दफ्तर की चक्की मे पिस गया। भरी जवानी मे तमन्नाओ की हत्या हो गई। अब जीना मात्र औपचारिक था। यह ठीक है कि मैंने मुस्कराना सीख लिया था। जब नरवस ब्रेकडाउन चरम सीमा पर था, तब अवसर' प्राप्त एक बडे डाक्टर ने, जो सन्यासी हो चुके थे, मुझसे कहा था, 'जीना चाहते हो तो रिलेक्स करना सीखो।'

"और मेरे भीतर जीने की लालसा थी। अभ्यास करने पर वह कला मैंने सीख ली। तब एक लालसा और जाग उठी। सोचा, क्या इसी तरह और कुछ नही सीखा जा सकता ? अभ्यास और वैराग्य से तो चचल मन भी बस मे हो जाता है। उन दिनो सवेरे आठ बजे से रात के आठ बजे तक काम करना साधारण बात थी। अक्सर कई-कई रातें लगातार दफ्तर मे बितानी पडती। घर पर भी बस्ता आता था। इसके अतिरिक्त पंजाब मे साम्प्रदायिक समस्या थी। बहुत पास से हिन्दू-मुसलमान, हिन्दू-सिख, जाट-बनिये को एक दूसरे से नफरत करते देखा है। वह नफरत व्यवहार मे गहरी उतर गई थी। दिन भर एक दूसरे के साथ काम करते थे, हँसते-बोलते थे और रात को एक दूसरे को नीचा दिखाने तथा मार डालने की योजनाए बनाते थे। मैंने स्वय मुसलमान, सिख और जाट मित्रो के आक्रमण सहे हैं। भयकर दगो, रक्तपातो और हत्याओ का मैं साक्षी रहा हू। मैं मानवता मे विश्वास करता था, मैंने मानव को मानव का रक्त उलीचते देखा है।

"धीरे-धीरे आर्यसमाज का रूप भी इसी परिप्रेक्ष्य मे पहचाना।

/

सदाचार का मूल्य मैंने वही सीखा । वही उसकी दुर्गति भी देखी । उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवी शताब्दी के आरम्भ की वह क्रान्तिकारी अदम्य शक्ति अब मात्र एक छलना होकर रह गई थी । एक घटना दूगा । एक हिन्दू कपाउण्डर एक मुसलमान स्त्री को प्यार करता था । प्रेम तो दुस्साहसी होता है । एक दिन दोनो ने आर्यसमाज मदिर मे जाकर विवाह कर लिया । यथासमय उनके पुत्र पैदा हुआ । उसके नामकरण सस्कार के अवसर पर उसने स्थानीय समाज के सभी सभासदो को आमन्त्रित दिया, लेकिन केवल चार व्यक्ति ही वहा पहुच सके—एक पुरोहित थे, दूसरे मन्त्री । दोनो का जाना वैधानिक रूप से अनिवार्य था । तीसरे सज्जन कुम्हार जाति के एक लगडे क्लर्क थे । हर जगह जाना उनका नियम था । चौथा मैं था । उस दिन मुझे कितनी ग्लानि हुई । ग्लानि के ऐसे अवसर असख्य है ।

"अपने उपन्यास 'निशिकान्त' मे मैंने ऐसे अवसर और अनुभवो का चित्रण किया है । इसलिए यह जब पजाब विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा के पाठ्यक्रम मे लगा था तो पजाब के समस्त आर्यसमाजो ने उसके विरुद्ध आन्दोलन करके उसे निकलवा दिया था और चाहा था कि मुझे जेल भेज दिया जाय । काश ! वे सफल हो पाते, तब मेरी एक कामना तो पूरी हो ही जाती ।

"आर्यसमाज की इस सहिता की जकड को ढीला करने मे गाधीजी के प्रभाव ने बहुत काम किया, यद्यपि मै उनके सीधे सम्पर्क मे कभी नही आया । पर उस प्रभाव ने मेरे भगवे वस्त्रो के रग को धो डाला । मानवता मे जो आस्था डगमगा रही थी, उसको बल मिला । यद्यपि अभी भी यह सब भावुकता के तल पर ही था । यह सब प्रभाव मेरे साहित्य पर स्पष्ट दिखाई देते हैं । बहुत-कुछ मुक्त भी हुआ हू, पर आज भी अन्तर के किसी कोने से ये दुर्बलताए रह-रहकर झाक जाती है ।

"आर्यसमाज की अन्धी जकड के ढीले होने का एक और कारण बना मेरा नाटक प्रेम । मैंने स्थानीय गुरुद्वारा और मस्जिद मे भाषण दिये हैं । हिन्दी प्रचार भी किया है । साथ-ही-साथ प्रतिवर्ष कोई-न-कोई परीक्षा देता था । लिखना भी आरम्भ हो ही गया था । इसके अतिरिक्त स्था-

नीय नाटक-मण्डलियो मे अभिनय भी करता था। स्वय भी एक मण्डली का निर्माता था। आर्यसमाज इस कला को अच्छी दृष्टि से नही देखता। एक घटना देनी होगी। मेरी वाग्दत्ता की मृत्यु हो जाने पर मैंने निश्चय किया कि अभी विवाह नही करूगा और करूगा तो किसी विजातीय या अछूत कन्या से। लेकिन कन्या पक्षवाले क्यो माननेवाले थे ? मैं बीस वर्ष की आयु का वरसरे रोजगार स्वस्थ युवक जो था। प्रथम वाग्दत्ता के पिता तुरन्त ही दूसरी कन्या का रिश्ता लेकर आ पहुचे। क्या हुआ, यह कटु-सघर्षो और निराशाओ की एक लम्बी कहानी है। यहा प्रासगिक इतना ही है कि जब वह लौट रहे थे तो स्टेशन के मार्ग मे पूछ बैठे, 'नौकरी के अतिरिक्त और क्या करते हो?' मैंने बडे गर्व से आर्यसमाज, साहित्य और परीक्षाओ की चर्चा की। अन्त मे कहा, 'नाटको मे भी काम करता हू।' उनके चेहरे की प्रशसा सहसा तिरोहित हो गई। अचकचा कर बोले, 'क्या करते हो ?'

"मैंने कहा, "सभी कुछ करता हू, अभिनय भी और व्यवस्था भी।'

जैसे उनके नेत्र जल उठे। बोले, "तब तो तुम्हारा चरित्र शका के योग्य है।"

"न जाने क्यो उस दिन पहली बार मुझे खुशी हुई।"

× × ×

"इतना कह कर मेरा दोस्त चुप हो गया। अब समझने को कुछ रह भी नही गया था। उसके एकाकीपन और पलायनवादी प्रवृत्ति का स्रोत मुझे मिल गया था। उसने एक लेख मे अपने बारे मे परिहास शैली मे लिखा था, "दुबले-पतले, अति भावुक, छेडो मत नही तो रो दूगा प्रवृत्तिवाले, सघर्षों मे पले पर उनसे भागनेवाले दृढ होकर भी दुर्बल, एकान्त प्रिय होकर भी घुमक्कड और स्नेही होकर भी घोर अहम्वादी। गाधी टोपी लगाते है पर 'अपने को' गाधीवादी नही मानते। सहर और अहिंसा मे विश्वास रखकर भी वादो की दुनिया मे चमकते है। मानते है कि वह विशुद्ध मानवता के उपासक है, पर वास्तव मे है स्वप्न-दर्शी। अपने को कहानीकार मानते है, जनता नाटककार कहती है और आलोचक कुछ भी नही समझते। पन्द्रह वर्ष तक सरकारी पशुपालन

फांसी पर काम करने के बाद भी नाटक और कहानी लिखने का शौक रखते है ।

"मनुष्य परिहास और आवेश की अवस्था मे ही अपने को सही-सही व्यक्त करता है । उसने भी सही ही लिखा था । इस बार मैंने पूछा था, 'अगर पुनर्जन्म होता हो तो क्या चाहोगे ?' उसने तुरन्त उत्तर दिया था, 'पैरो मे गति, और वाणी मे सगीत । घूमता रहू, गाता, रहू । निरन्तर घूमता और गाता रहू ।'

"है न पलायनवादी मनोवृत्ति? लेकिन बार-बार प्रयत्न करने पर भी उसे गाना नही आया । घूमने का अवसर भी तब मिला, जब रस चुक गया था । और उसने कुण्ठाओ को आदर्श की चादर से ढकना सीख लिया था । जब इनिशिएटिव समाप्त हो जाता है, तव मन पीछे हटने को ही बहादुरी मान लेता है । और ऐसा व्यक्ति केवल मात्र 'भला व्यक्ति' बनकर रह जाता है । भला व्यक्ति न तेजस्वी होता है और न प्रतिभाशाली । उसकी एक पुस्तक की आलोचना करते हुए किसी ने लिखा था, 'विष्णुजी की यह पुस्तक जैसे वह भले है वैसी ही भली-भली-सी है ।' इससे भयकर निन्दा उसके शत्रुओ ने भी न की होगी । और यह ठीक भी है । मैंने एक दिन कहा, 'तुम गलत न समझो तो एक बात कहू ।'

'कहो ।'

'तुम कायर हो और कायरता को छिपाने के लिए '

"उस क्षण उसने ऐसी निरीह दृष्टि से मेरी ओर देखा कि मै अपना वाक्य पूरा न कर पाया । मेरे कन्धे पर हाथ रखकर वह बोला, 'जो स्पष्ट है उसे बार-बार जताने से क्या लाभ ? लेकिन यह कायरता मेरे रक्त मे नही थी । अब भी नही है । इसीलिए जीवन को ढोने के इन क्षणो मे उल्लास के क्षण कही-न-कही से आ ही जाते हैं ।'

"मैंने उत्तर दिया, 'कही से क्या, यह भी तुम्हारे पारदर्शी अन्तर से ही आते हैं । तुम अपने मनोभावो को कभी नही छिपा पाते । आनन्द, ग्लानि, ईर्ष्या-द्वेष, घृणा-प्रेम, उपेक्षा-उदासीनता, ये सब तुरन्त तुम्हारी आखो से होकर चेहरे पर अकित हो जाते हैं ।'

"वह हँस आया । बोला, 'हा, इसीलिए आखें मेरी वड़ी कमजोर

हैं। हर किसी को आखो से ही परखता हू।"

"मैंने शरारत से कहा, 'लेकिन दोस्त, परखकर भी प्रेम नही कर पाते। बातें करना तक नही जानते। करते भी हो तो केवल गणित की। वह भी अकगणित की, रेखागणित की नही।'

"वह बोला, 'प्रेम न किया हो, वदनामी तो सही है। और भाई, आचार सहिता की अन्वी जकड मे जो कसा जा चुका है, वह प्रेम कैसे कर पायगा ? वह तो उच्छृ खिल या फिर कुण्ठाग्रस्त ही हो सकता है। जिसका रस चुक चुका है, जिस पर बाहर-भीतर की एकता का भूत सवार है, वह इस क्षेत्र मे कितना भटकेगा ? जितना भटकेगा उसे भी वह कसौटी पर कसेगा। अकगणित वही कसौटी है। भला गणित से प्रेम का क्या सम्वन्ध ? मजा यह कि इतना जानकर भी मुक्ति नही पा सका। एक बात बताता हू। अभी उस दिन एक पार्टी मे बहुत दिन बाद एक मित्र से भेंट हो गई। उन्होंने पूछा, 'कहो स्वास्थ्य कैसा है ?' मैंने कहा, 'वायु और अम्ल दोनो के मारे परेशान हू।' मित्र ने गम्भीरता से उत्तर दिया, 'तो भाई इसका एक ही इलाज है, किसी के प्रेम मे पड जाओ।' दूसरे मित्र पास ही खडे थे। बोले, 'यह कौन कठिन काम है। इसका प्रवन्ध हो जायगा।' मैंने कहा, 'प्रवन्धवाले प्रेम से रोग नही जा सकता। यहा प्रेम इतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना पडने की क्रिया। यही क्रिया वास्तविक औषव है।' पहले मित्र बोले, 'तुमने ठीक समझा।'

"मैं अपने दोस्त से सहमत हू और यह भी जानता हू कि इन सब दुर्बलताओ के बावजूद वह अभी हारा नही है। उसने सत्तर की नौकरी छोडी, सात-सौ की भी छोडी, पर उसे यह नही सोचना पडा कि लेखन को पेशा बनाना उचित होगा या नही, क्योकि नौकरी मे मुक्ति पहला प्रश्न था। इसी के कारण तो मन की मृत्यु हुई है। पहले यह जाय, फिर जो कुछ होगा, सहा जायगा। और उसने सहा। गति भी उसकी नही रुकी। लेकिन जब जीवन का रस एकबार सूख जाता है तो इनिशिएटिव नही रहता। किसी को अपना बनाने की शक्ति नही रहती। मात्र सद्-भावना से पीछे हटने का नाटक ही करने को वह विवश हो जाता है।

ने रवि ठाकुर की इस कविता का वही पात्र हो—

दि तोर डाक शुने केउ न आशे, तवे एकला चलो रे, ऐकला चलो रे !

"पर यह गर्व मिथ्या है। उसे डाक देना (पुकारना) ही तो नही आता। बस, वैसे ही अकेला चला जाता है। शायद भले आदमी को चलने का अधिकार तो मिल ही जाता है। मौन रहने और पीछे हटने की यह घातक प्रवृत्ति उसमे आज भी बनी है। इसे भलमनसाहत कह लो या कायरता, लेकिन यह सब अनायास ही परिस्थितियो के कारण हुआ है। जैसा कि उसने कहा, यह उसके रक्त मे नही था। वीरता और कायरता की सीमा रेखा बडी छलिया है। उसी छल को उसने ओढा है। और अब वह उसका स्वभाव बन गया है। इस स्वभाव के कारण जीवन, जिनसे सरस और सम्पन्न होता है वे सभी सम्पर्क उससे दूर रहे है। "

अब आगे पढने का साहस मुझ मे नही था। यह कौन मेरा अन्तरग मित्र है, जिसने मुझे इस तरह अनावरण किया है। तुरन्त पन्ने पलटने लगा। लेख के अन्त मे देखता हू कि वहा तो मैं स्वय ही हू। हे भगवान! मेरे ही दम्भ ने मुझ पर प्रहार किया।

पर जब सत्य प्रकट हो ही गया है तो, अपने को और अधिक नही छिपाऊगा। इसी छल से सही, मैंने यदि अपनी अति प्रशसा की हो या शहादत का जाम पीना चाहा हो तो क्षमा चाहूगा। एक और बात के लिए भी क्षमा माग लू। मैंने अपनी रचनाओ की चर्चा नही की हैं। करने योग्य कुछ है भी नही। मुझे अपनी रचनाए प्राय अच्छी नही लगती और दूसरो की प्राय अच्छी लगती हैं। मैंने अभी तक किसी ऐसी रचना की सृष्टि नही की जो मेरे बाद भी जी सके। यद्यपि ऐसी रचना करने की चाह जरूर है जो मेरे मरने के सौ साल बाद भी पढी जा सके। पर यह सब अप्रासगिक है। इस लेख के सन्दर्भ मे इतना ही प्रासागिक है, कि रचनाए जीवन से अलग नही हैं और उनकी सख्या गिनाने से केवल अपने अहम् की ही तुष्टि होती है। ऐसे ही जैसे प्रेमिकाओ की सख्या गिनाने से। रचना-प्रक्रिया की पृष्ठभूमि मे जो व्यक्तित्व है, उसी की बात शायद मुझ से पूछी गई है। यो जैसा सभी

के साथ होता है, अपनी रचनाओ के लिए मैंने प्रशसा भी पाई है और निन्दा भी। निन्दा को मैंने प्रशसा से बढकर माना है। मन की बात कहूगा, दु ख हुआ है उपेक्षा से, जो कम नही मिली है। दलबन्दी के इस युग मे यह अनहोनी नही है, अस्वाभाविक तो है ही नही। लेकिन फिर भी इस उपेक्षा ने मेरी कलम की धार कुण्ठित नही होने दी। निरन्तर उसी कार्य मे व्यस्त रहता हू। भ्रमण भी उसी कार्य का एक अग है।

जीविका भी इसी के सहारे है, पर इसी कारण अभी तक झुका नही हू। चाहता हू ऐसा अवसर आये भी न। परन्तु सघर्ष दिन-पर-दिन तीव्र होता आ रहा है। आज के युग मे अकेले आदमी का सघर्ष कैसा भयानक होता है, यह वही जान सकता है जो सचमुच अकेला है। जो न किसी पद पर है न किसी दल मे, जा किसी का भी नही है और जो पलायन को आत्म-रति की सज्ञा देता है। फिर भी जी रहा हू। इस जीने पर कभी-कभी अचरज होता है और भविष्य के प्रति आशका भी। लेकिन तीस वर्ष बाद आज के इस बदले हुए युग मे जब अपने प्रारम्भिक काल पर दृष्टि डालता हू तो एक अनोखे गर्व से भर उठता हू। उसी तरह लेखक बनने का प्रयत्न करते रहने की प्रेरणा पाता हू। इसी प्रयत्न मे मेरी सार्थकता है। यही गर्वोक्ति मेरी शक्ति है। शायद किसी दिन लेखक बन जाऊ।

१९६५